मिले मन भीतर भगवान

श्रीमद्
विजय कलापूर्णसूरिजी
महाराज

प्राकृत भारती पुष्प ३४,

मिले मन भीतर भगवान

ह्रीं
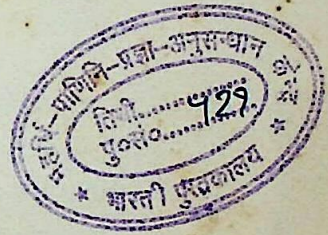
पूज्य आचार्यदेव
श्री विजय कलापूर्ण सूरिजी महाराज

अनुवादक
म. विनयसागर
निदेशक, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

□

नैनमल विनयचन्द्र सुराणा
सिरोही (राज०)

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

卐 जैन श्वे. तपागच्छ संघ
आत्मानन्द जैन सभा भवन,
घी वालों का रास्ता जौहरी बाजार जयपुर (राज०)

卐 देवेन्द्रराज मेहता
सचिव, प्राकृत भारती अकादमी
३८२६, यति श्यामलालजी का उपासरा
मोतिसिंह भोमियों का रास्ता जयपुर–३

पुस्तक प्राप्ति स्थान :
· अवन्ति पार्श्वनाथ तत्त्वज्ञान प्रचारक मण्डल
c/o नरेन्द्र कुमार भटेवरा
१६ चन्दनवाला भवन, नमकमण्डी उज्जैन (M.P.)

प्रकाशन तिथि
मार्गशीर्ष सुदि १२, सोमवार वि. सं. २०४२
ता. १–१२–८५

मूल्य : ३०.००

विशिष्ट आर्थिक सहयोग प्राप्त होने से यह पुस्तक आत्मानन्द जैन सभा भवन, जयपुर से १५.०० रु. में प्राप्त होगी।

मुद्रक : अजन्ता प्रिण्टर्स,
घी वालों का रास्ता, जौहरी बाजार
जयपुर (राज०) फोन नं. ४४०५७

मंत्र एवं मूर्त्ति का महत्त्व

ज्ञान-ज्योति से प्रभु-मूर्त्ति के दर्शन होते हैं और अनाहत नाद से प्रभु-नाम के मन्त्र का जाप होता है।

ज्योति-दर्शन का आलम्बन जिन-मूर्त्ति है और नाद-अनुसंधान का आलम्बन नाम-मंत्र है।
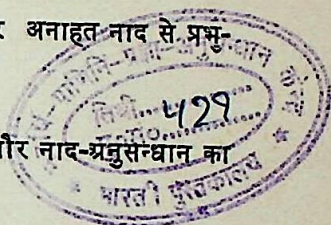
नाद-विन्दु कलाऽभ्यासात्, ज्योतिरुत्पद्यते पुनः।
तत्प्राप्तौ च मनुष्याणां, जायते परमं पदम्॥

मंत्र के द्वारा नाद, बिन्दु, कला का पुनः पुनः अभ्यास होता है। नाद, विन्दु एवं कला के अभ्यास से ज्योति उत्पन्न होती है। वह चिन्मय ज्ञान-ज्योति आत्मा का स्वरूप है। उसकी उपलब्धि से परम पद की प्राप्ति होती है।

मंत्र-जाप स्वाध्याय स्वरूप है और मूर्त्ति का दर्शन ध्यान स्वरूप है। स्वाध्याय से ध्यान और ध्यान से स्वाध्याय का पुनः पुनः अभ्यास करने से आत्म-तत्त्व प्रकाशित होता है। आत्मा नाद एवं ज्योति स्वरूप है। उसका प्रकटीकरण मंत्र एवं मूर्त्ति के क्रमशः जाप एवं ध्यान के द्वारा सुलभ होता है। नाद का आलम्बन मंत्र है और ज्योति का आलम्बन मूर्त्ति है।

तत्त्वदृष्टा पू. पंन्यास-प्रवर श्री भद्रंकर विजयजी महाराज

—(स्व हस्तलिखित डायरी में से उद्धृत)

प्रकाशकीय

आत्मा के भव-परिभ्रमण का मूल, देह में आत्म-बुद्धि की भ्रान्ति है। अनादिकालीन इस भ्रान्ति का निवारण परमात्मा की निष्काम भक्ति के द्वारा अत्यन्त सरलता पूर्वक हो सकता है।

भूमिका साधु जीवन की हो चाहे गृहस्थ जीवन की, भक्ति योग सबके लिये परम आदरणीय है।

भक्ति के बिना मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति भक्त को भगवान बनाकर ही रहती है. उसे मुक्ति के प्रासाद में पहुँच कर ही दम लेती है। इस कारण ही तो भक्तगण भगवान की भक्ति के आत्मानन्द में झूमते हुए कह गये हैं, "प्रभु! आपकी भक्ति के प्रभाव से हमें मुक्ति मिले अथवा न मिले उसकी कोई चिन्ता नहीं। हमारी तो सदा के लिये यही अभिलाषा है कि आपकी भक्ति में कदापि क्षण भर के लिये भी अन्तराय न पड़े।"

जिसके लिये प्रभु की भक्ति ही सर्वस्व है उसे मुक्ति मिलती ही हैं। इस प्रकार की अचिन्त्य महिमा प्रभु की भक्ति की है।

- भक्ति कैसे की जाये ?
- भक्ति कितने प्रकार की होती है ?
- भक्ति के द्वारा भक्त भगवान कैसे बन सकता है ?
- आँखों से अगोचर माना जाने वाला प्रभु का दर्शन-मिलन मन के भीतर कैसे किया जा सकता है ?

आदि अनेक रहस्यमय विषयों पर हृदय-स्पर्शी, शास्त्र-सम्मत एवं अनुभव-सिद्ध प्रकाश इस पुस्तक में डाला गया है।

पुस्तक के लेखक हैं, अध्यात्म-योगी पूज्य आचार्य देव श्रीमद् विजय कलापूर्ण सूरीश्वरजी महाराज; जो परमात्म-भक्ति के एक उत्तम साधक पुरुष

हैं। सर्व-जीव-हिताय जीवन जीने वाले महापुरुष के इस तत्त्व-प्रसाद का पठन, मनन, चिन्तन हमारे जीवन को एक नवीन दिशा की ओर ले जाता है, हमारे भीतर एक नवीन चेतना जागृत करता है।

पूज्य आचार्य देव के आध्यात्मिक एवं भक्ति-रस पूर्ण तात्त्विक पुस्तकों के प्रकाशन का जो सौभाग्य हमारी संस्था को प्राप्त हो रहा है यह हमारे लिये महान गौरव और हर्ष की बात है।

'मिले मन भीतर भगवान' इस पुस्तक का प्रथम संस्करण गुजराती भाषा में ही प्रकट हुआ था। गुजराती भाषा जानने वाले हिन्दी भाषी जिज्ञासुओं ने यह पुस्तक पढ़कर अपनी अन्तर्भावना व्यक्त करते यही सुझाव दिया कि इसका हिन्दी में भी अनुवाद अवश्य प्रकाशित होना चाहिए, ताकि हिन्दी भाषी लोग भी इस पुस्तक से प्रेरणा प्राप्त कर, परमात्म-प्रीति-भक्ति में अपनी आत्मा को ओत-प्रोत बनाकर आत्मिक शांति प्राप्त कर सकें, स्व-स्वरूप को पहचान सकें।

इसी लोक-भावना को दृष्टिगत रखते हुए हमने प्रस्तुत पुस्तक का हिन्दी अनुवाद **महोपाध्याय विनयसागर** साहित्य महोपाध्याय, साहित्याचार्य, जैन-दर्शन शास्त्री [निदेशक : प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर (राज.)] तथा नैनमल विनयचन्द्र सुराणा एम. ए. बी. एड साहित्यरत्न [सिरोही (राज.)] से कराया है।

इन दोनों महानुभावों ने अपने अन्य लेखन कार्यों को गौण करके इस हिन्दी अनुवाद के कार्य को सम्पन्न करने में जो आत्मीयता बताई, वह अविस्मरणीय है। आवरण पृष्ठ सज्जा के लिए हम श्री पारस भंसाली के अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

इस प्रकाशन में विविध रूप से सहयोग प्रदान करने वाले ज्ञात-अज्ञात महानुभावों का भी हम हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

—प्रकाशक

मिले मन भीतर भगवान

"नाम ग्रहे आवी मिले मन भीतर भगवान" परम पूज्य उपाध्यायजी भगवंत श्री मान विजयजी गणिवर श्री की इस स्तवन पंक्ति ने आज तक अनेक आराधकों को बाहर से भीतर प्रवेश करने की प्रेरणा दी है, आत्मा के घर में आसन जमाने योग्य बनाया है और अन्तरतम में एक रूप किया है।

परमज्ञानज्योतिर्मय, परमसुखमय, परमआनन्दमय परमात्मा के दर्शन-मिलन की तीव्र तड़पन का अनुभव करता भक्त सर्वत्र भगवान को खोजता है, परन्तु उनका दर्शन-मिलन प्राप्त नहीं होने से वह अत्यन्त हताश हो जाता है; फिर भी दर्शन-मिलन की तृषा अत्यन्त तीव्र होने से वह उसके लिये प्रबल पुरुषार्थ करता रहता है।

एक दिन भाग्योदय से किसी अनुभव-योगी (सत्-साधु) से उसका समागम हुआ। उसने अपनी मनो-व्यथा उनके समक्ष व्यक्त की। प्रभु-दर्शन की अपनी तीव्र लगन से उन्हें परिचित कराया और विनयपूर्वक प्रणाम करके, उनकी अनन्य शरण स्वीकार कर उसने उन्हें प्रभु-दर्शन का सच्चा उपाय पूछा।

उपकारी गुरु ने अपना अनुभव-सिद्ध मार्ग वात्सल्यमय वाणी में उसे कह सुनाया, "हे सौम्य ? तू धन्य है कि तुझे परमात्मा के दर्शन-मिलन की तीव्र उत्कंठा हुई। तू कृत-पुन्य है। सचमुच, जन्म-जन्म के प्रकृष्ट पुन्य के बल से ही जीव को परमात्मा का स्वरूप जानने की इतनी तीव्र अभिलाषा होती है। तेरे साध्य को सिद्ध करने के जो ठोस उपाय मैंने शास्त्रों से ज्ञात किये हैं उन्हें तू सावधानी पूर्वक सुन।"

"जिन परमात्मा के दर्शन की तुझे तीव्र अभिलाषा है, वे परमात्मा पूर्ण ज्ञानमय, पूर्ण दर्शनमय और पूर्ण चारित्रमय (सुखमय) हैं। अत: उनका प्रत्यक्ष

दर्शन-मिलन तो पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन और पूर्ण चारित्र की प्राप्ति से ही हो सकता है। इन तीनों को रत्न-त्रयी कहते हैं। इनकी पूर्णता ही मोक्ष है। उनकी प्राप्ति का साधन मोक्ष-मार्ग कहलाता हैं।

इस रत्न-त्रयी की प्राप्ति सुदेव, सुगुरु और सुधर्म रूपी तत्त्व-त्रयी की सविधि, ससम्मान आराधना करने से ही हो सकती है। इसलिये इन तीनों तत्त्वों की विधिपूर्वक भक्ति करनी अत्यावश्यक है। श्री नमस्कार महामंत्र रूप पंच मंगल सूत्र द्वारा मुख्यतया देव-तत्त्व एवं गुरु-तत्त्व की आराधना का तथा 'श्री करेमि भंते' सूत्र द्वारा धर्म-तत्त्व की आराधना करने का निर्देश है।

सर्वज्ञ-कथित और श्री गणधर भगवंत-रचित 'द्वादशांगी' इन दोनों संक्षिप्त सूत्रों का अर्थ—विस्तार है। श्री 'नवकार' और 'सामायिक' समग्र जिन-शासन के, मोक्ष-मार्ग के सार-भूत तत्त्व हैं, जिनमें पाँच परमेष्ठी, नव-पद आदि समस्त उत्तम तत्त्वों का अन्तर्भाव है।

पांच परमेष्ठी भगवंतों के प्रति परम प्रेम उत्पन्न करने के लिये, पत्नी को अपने प्राण-प्रिय पति के प्रति प्रेम होता है वैसा प्रेम प्रकट करना चाहिये, पुत्र को अपनी माता के प्रति जो पूज्य-भाव होता है वैसा पूज्य-भाव श्री अरिहन्त परमात्मा के प्रति जागृत करना चाहिये और सच्चे सेवक को अपने स्वामी की आज्ञा के प्रति जो सम्मान होता है वैसा सम्मान जागृत करना चाहिये।

जिस प्रकार ये तीनों लौकिक प्रेम सम्बन्ध प्रीति, भक्ति एवं आज्ञा-पालन से प्रगाढ़ बनकर पारस्परिक एकता में परिवर्तित हो जाते हैं, उसी प्रकार से परमात्मा और सुगुरु के साथ भी प्रीति, भक्ति और आज्ञा-पालन के विकास से एकता का सम्बन्ध अनुभव किया जाता है।

योगशास्त्रों में प्रीति-योग, भक्ति-योग, वचन-योग और असंग-योग अथवा प्रीति अनुष्ठान, भक्ति अनुष्ठान वचन और असंग अनुष्ठान के माध्यम से परमात्मा एवं गुरू के साथ एकता (अभेद) सिद्ध करने के उपाय बताये हैं।

इस तरह सुदेव एवं सुगुरू के साथ एकता का निकटतम अनुभव करता साधक उनमें विद्यमान सम्यग्-दर्शन आदि गुण प्राप्त करता है।

सुदेव के द्वारा उसे सम्यग्-दर्शन रूपी नेत्र मिलते हैं।

सुगुरू के द्वारा उसे श्रुत-ज्ञान रूपी चक्षु मिलते है।

सुधर्म द्वारा उसे सच्चारित्र, आत्म-अनुभव रूपी जीभ मिलती है।

इस तत्त्व-त्रयी की भक्ति के द्वारा साधक को रत्न-त्रयी की अवश्यमेव प्राप्ति होती है जिससे साधक प्रभु को अपने मन-मन्दिर में साक्षात् विराजमान देखत है।

कहा भी है कि—"प्रवचन अंजन जो सद्गुरू करे,
देखे परम निधान;
हृदय-नयन निहाले जग-धणी,
महिमा मेरू समान।"

इस प्रकार परमात्मा के दर्शन से साधक के मुंह में से ये शब्द निकल पड़ते हैं कि—

"मिले मन भीतर भगवान"

जिन भगवान को मैं बाहर ढूंढ रहा था, वे भगवान तो आज अन्तर में ही विराजमान दृष्टिगोचर होत हैं। प्रभु को निहार कर अपनी आत्मा का स्वरूप भी परमात्मा तुल्य है ऐसा ज्ञात होता है। फिर प्रभु के साथ ध्यान द्वारा एकता सिद्ध होने पर परमानन्द की अनुभूति होती है।

इस प्रकार मन भीतर भगवान से मिलन करने की भूमिका तैयार करने के लिये उचित पथ-प्रदर्शन शास्त्र, सद्गुरू एवं अनुभव के आधार पर इस ग्रन्थ में संक्षेप में किया गया है।

तदुपरान्त अनन्य उपकारी तत्त्व-दृष्टा पूज्य पंन्यास प्रवर श्री भद्रकंर विजयजी गणिवर श्री ने इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु को आद्योपांत पढ़कर उचित

संशोधन हेतु अमूल्य निर्देश देकर मुझ पर महती कृपा-वृष्टि की। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनके कतिपय तात्त्विक चिन्तनों का प्रसाद गुम्फित किया गया है।

यह ग्रन्थ सचमुच आत्म-साधक महापुरुषों का प्रसाद स्वरूप ही है। मैंने तो प्रभु-भक्ति से प्रेरित होकर केवल इसका संयोजन-संकलन किया है।

इस संकलन को रमणीय बनाने में अनेक भक्ति-रसिक पुन्यात्माओं का सहयोग प्राप्त हुआ है। उन सबकी अनुमोदना करने के साथ, वे समस्त पुन्यात्मा श्री अरिहन्त परमात्मा की भक्ति के सच्चे उपासक बन कर अपने मन-मन्दिर में बिराजमान परमात्मा का दर्शन-मिलन करके अनुपम आत्मानन्द का अनुभव करें यही शुभाकांक्षा है।

व्यक्ति की समस्त आकांक्षाओं को लक्ष्य-ग्रेग्री बनाने का अमोघ उपाय श्री अरिहन्त परमात्मा के नाम का सतत स्मरण है। इससे अशुभ विकल्पों की धारा रुक जाती है और शुभ विचारों का प्रवाह प्रारम्भ होता है। व्यक्तिगत आकांक्षाओं का स्थान समष्टिगत आकांक्षायें ले लेती हैं। अतः प्रथम विचार समष्टि के कल्याण का आता है। किसी के भी अहित की अशुभ भावना मन में नहीं आती। कदाचित् आती भी है तो वह तत्क्षण नष्ट हो जाती है।

प्रभु का नाम समस्त गुणों का धाम है। इस तथ्य का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये निम्न प्रयोग किये जा सकते हैं:—

प्रथम प्रयोग:—संगीत के सुरीले, मन मोहक स्वरों में 'नमो अरिहंताणं' अथवा 'अरिहन्त' पद की धुन लगानी चाहिये। अत्यन्त प्रिय राग में हमें स्वयं यह धुन लगानी चाहिये और दूसरों से भी लगवानी चाहिये। इस प्रकार भिन्न-भिन्न राग-रागनियाँ, ताल एवं धुनों में भक्त को प्रभु नाम का रटन करना और सुनना चाहिये।

द्वितीय प्रयोग:—हमारे नेत्रों को प्रिय लगने वाले आकर्षक, सुन्दर रंगों में प्रभु का नाम लिखो, लिखवाओ और चित्रित कराकर नित्य अपनी दृष्टि के समक्ष रखो।

तृतीय प्रयोगः—नित्य निश्चित समय पर नियमित प्रभु का जाप अवश्य करना चाहिये। तदुपरान्त अवकाश के समय में मन को अन्तर से 'अरिहन्त-अरिहन्त' पद की रटन में लगाना चाहिये।

चतुर्थ प्रयोगः—सबने प्रभु नाम की अपार महिमा गाई है, परन्तु पाँच-छः माह के सतत अभ्यास से उसके आनन्द का जीवन में अनुभव किया जा सकता है। अतः प्रभु-नाम की महिमा बताने वाले संतों-महंतों का सम्पर्क रखना चाहिये, तथा उनके द्वारा लिखी गई पुस्तकों का बार-बार पठन-मनन करना चाहिये जिससे प्रभु के नाम का स्मरण प्रेम-पूर्वक होता रहे।

इस प्रकार प्रभु-नाम का निरन्तर स्मरण करने से विकल्प शान्त हो जाते हैं और चित्त में प्रभु के दर्शन होते हैं।

मूर्त्ति में भगवान का दर्शन

जिन-मूर्त्ति श्री जिनेश्वर भगवंत के मूर्त्तिमंत स्वरूप के साक्षात् दर्शन कराती है, जिससे मूर्त्ति के माध्यम से भक्त-आत्मा भगवान से नित्य नियमित साक्षात्कार करता है, उनके प्रति प्रगाढ़ प्रीति एवं अतिशय भक्ति-पूर्वक विविध श्रेष्ठ द्रव्यों से उनकी पूजा करता है, भगवान का अद्‌भुत रूप निहार कर वह हर्ष-विभोर होकर नृत्य करता है, भगवान के गुणों का मधुर स्वर से वह गान करता है और भाव-पूर्ण स्तोत्रों एवं स्तुतियाँ के द्वारा वह भगवान के श्रेष्ठ गुणों की स्तवना करता है।

इस प्रकार नाम स्मरण में प्रीति-योग अनुष्ठान की प्रधानता होती है और मूर्त्ति की उपासना में प्रभु का साक्षात् दर्शन प्राप्त होने से भक्ति-योग की प्रबलता उत्पन्न होती है। इसलिये ही तो महायोगी पुरुषों ने प्रभु के नाम और मूर्त्ति को साधना के प्रमुख अग माना है। अतः परमात्मा के दर्शन एवं मिलन में प्रभु नाम का स्मरण और मूर्त्ति के दर्शन, वन्दन, पूजन अत्यन्त आवश्यक हैं।

परमात्म-साधना के इन अंगों का उपकारी निरूपण इस ग्रन्थ में है।

साध्य के प्रति अविचल राग उत्पन्न करने के अनेक उपाय स्वाध्याय, संयम-शुद्धि आदि भी इस ग्रन्थ में वर्णित हैं।

छोटे को बड़ा होने की उत्कंठा स्वाभाविक होती है। इसी तरह जीवात्मा को परमात्मा बनने की उत्कंठा होनी चाहिये। यदि नहीं हो तो उत्पन्न करनी चाहिये।

इस प्रकार की उत्कंठा उत्पन्न करने के ठोस उपाय भी इस ग्रन्थ में हैं। प्रत्येक विवेकी आत्मा इस ग्रन्थ के अध्ययन एवं मनन द्वारा 'मन भीतर भगवान' से साक्षात्कार करके भगवत् स्वरूप का अपूर्व अनुभव करे, स्वरूप-मग्नता के शिखर पर पहुँचे और परमानन्द पद की अधिकारी बने।

इस ग्रन्थ में जिनाज्ञा से विपरीत जाने-अनजाने यदि कुछ भी लिखा हो तो उसके लिये 'मिच्छामि दुक्कड़'

—विजय कलापूर्ण सूरि

नांदिया तीर्थ जिला सिरोही (राज०)

वि. सं. २०४०, पौष कृष्णा पंचमी

अनुक्रमणिका

अत्यन्त प्रभावशाली जिन-भक्ति

□

सुख कहां है ?

□

कोई भी मानव अपने मन एवं इच्छाओं पर नियन्त्रण किये बिना वास्तविक सुख अथवा शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। भौतिक सुखों की विपुल सामग्री एकत्रित करके उनके उपभोग के द्वारा मानव स्वयं को सुखी एवं समृद्ध बनाने का प्रयास करता है परन्तु वह सम्भव नहीं है। उसका कारण यह है कि उक्त सामग्री में चेतन के धर्म का तनिक अंश भी नहीं होता, तो फिर सच्चे सुख की सम्भावना कैसे की जा सकती है ?

उसमें पाँचों इन्द्रियों के विषयों को बहलाने की योग्यता अवश्य होती है, परन्तु किसी भी व्यक्ति की इन्द्रियां इस प्रकार कभी तृप्त नहीं हुई, होती ही नहीं। घी से अग्नि शमन नहीं होती वरन् अधिक उद्दीप्त होती है। उसी प्रकार से बाह्य सामग्री के भोगोपभोग से इन्द्रियाँ सन्तुष्ट न होकर अधिक तीव्र बनती हैं !

अतः अनुभवी महान् सन्त पुरुषों ने इस प्रकार की सामग्री एवं उसके भोगोपभोग से प्राप्त होने वाले सुख को भ्रामक कह कर उसमें भ्रमित नहीं होने का फरमाया है।

इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त हैं। मानव की एक इच्छा संतुष्ट न हो, तब तक तो अन्य सैकड़ों इच्छाएँ उसके मन पर नियन्त्रण कर लेती हैं और उसकी तृप्ति का कल्पित आनन्द क्षण भर में अतृप्ति की ज्वाला में परिवर्तित हो जाता है।

समस्त भौतिक सुखों के उपभोग का यही करुण परिणाम प्राप्त होता है, फिर भी बाह्य सुख की कामी एवं रागी आत्मा अधिकाधिक भौतिक सुखों की प्राप्ति एवं उपभोग के लिये रात-दिन प्रयत्न करती रहती है।

समस्त प्रकार के भौतिक सुख शर्करा लिप्त (Sugar-coated) विष की गोली तुल्य घातक हैं। वे ऊपर से मधुर और भीतर से विष तुल्य कटु हैं। अतः उनसे आत्मा को शान्ति एवं तृप्ति प्राप्त नहीं हो पाती।

इन्द्रियों को प्राप्त होने वाले अभीप्सित रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द के विषयों से मोहाधीन आत्मा सुख प्राप्ति के भ्रम में मग्न होती है, परन्तु उसका वह भ्रम वस्तुतः भ्रम ही है, क्योंकि रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द पुद्गल के धर्म हैं। उनसे आत्मा को सुख प्राप्त हो सकता है क्या ? कदापि नहीं, पुद्गल से पुद्गल तृप्त होता है, आत्मा नहीं।

आत्मा को तृप्त एवं पुष्ट करने के लिये उसके गुण-ज्ञान, दर्शन, चारित्र, समता, मृदुता, सन्तोष आदि में मन को तल्लीन कर देना चाहिये, उनसे अपने जीवन को गुम्फित करना चाहिये।

बाह्य सुखों के पीछे ही निरन्तर पागल की तरह दौड़ते हुए मानव ने अपनी आन्तरिक भूख के लिये एकान्त में शान्त-चित्त बैठकर क्या कभी सोचा है कि इतना-इतना प्राप्त करके और उसका उपभोग करके भी मुझे आन्तरिक शान्ति एवं तृप्ति का अनुभव क्यों नहीं होता ?

विवेकी, चिन्तक मनुष्य के समक्ष जब यह प्रश्न उपस्थित होता है तब किसी नवीन दिशा की ओर शान्ति की खोज में उसका मन प्रेरित होता है, आत्मिक शान्ति एवं तृप्ति प्राप्त करने की उसको लगन लगती है और उसकी लगन में तीव्रता आते ही उसे किसी ऐसे संत, महन्त अथवा ग्रन्थ से साक्षात्कार हो जाता है जो उसकी भीतरी भूख के लिये उचित पथ-प्रदर्शक बन जाता है।

सुख आत्मा में रहता है, पुद्गल में नहीं।

संयोगजनित पौद्गलिक सम्बन्ध अथवा पदार्थ आन्तरिक शान्ति अथवा तृप्ति कदापि नहीं दे सकते। सुख, शान्ति एवं आनन्द आत्मा का स्वभाव है।

उस स्वभाव पर लिप्त ग्रावरण जिस अंश में हटते हैं उसी अंश में सुख-शान्ति की अनुभूति होती है।

कोई भी विकृत पदार्थ अपने धर्म का पालन नहीं कर सकता, यह एक अटल नियम है। इस नियमानुसार मोह, मिथ्यात्व, अज्ञान आदि से लिप्त आत्मा स्वयं के मूल धर्म का पालन नहीं कर सकती, अपना स्वभाव स्पष्ट नहीं कर सकती।

यह आत्मा आनन्दमय है, सुखमय है, ज्ञानमय है; इस सत्य में श्रद्धा रख कर उसे प्रकट करने के जो वास्तविक उपाय हैं, उसको आचरण में लाने का सक्रिय प्रयास किया जाये तो इस जीवन में ही आन्तरिक शान्ति एवं आनन्द की अनुभूति अवश्य हो सकती है और वह उपाय है श्री अरिहन्त परमात्मा के प्रति प्रेम एवं भक्ति।

पौद्गलिक सुखों के प्रति प्रगाढ़ राग के कारण जो मन मलिन एवं चंचल हो गया है उसे निर्मल एवं स्थिर बनाने वाली श्री अरिहन्त परमात्मा की प्रीति और भक्ति है।

महा महिमामयी श्री अरिहन्त-भक्ति

श्री अरिहन्त परमात्मा के साथ प्रेम करने से जन्म-जन्म से चित्त में स्थित पौद्गलिक सुखों की आसक्ति का रूपान्तर एवं मलिन वासनाओं का ऊर्ध्वीकरण हो जाता है। जो अप्रशस्त वृत्तियाँ हैं, वे श्री अरिहन्त परमात्मा के प्रेम के प्रभाव से प्रशस्त एवं पवित्र बन जाती हैं। पुद्गल के राग का स्थान आत्म-रति ले लेती है। केवल स्वयं के सुख के राग का स्थान समस्त प्राणियों के सुख का विचार ले लेता है। यही एक भक्तियोग की प्रमुख विशेषता है।

मोह की प्रबलता के कारण अथवा भौतिक सुखों की तीव्र आसक्ति के कारण जिन चित्त-वृत्तियों को विरति-धर्म (त्याग-वैराग्य) के स्व पर कल्याण-कारी पथ की ओर उन्मुख करने का कार्य अत्यन्त कठिन ज्ञात होता है, वह

कार्य श्री अरिहंत परमात्मा की भक्ति के प्रभाव से अत्यन्त सरल हो जाता है।*

रागी के प्रति राग आसक्ति है और वह संसार का मार्ग है। वीतरागी के प्रति राग भक्ति है और वह मोक्ष का मार्ग है।

श्री अरिहन्त एवं सिद्ध परमात्मा के अनन्त गुण, उनकी अचिन्त्य एवं अकल्पनीय शक्ति, उनके द्वारा विश्व पर किये गये, किये जा रहे एवं किये जाने वाले असंख्य उपकार, उनकी लोकोत्तर करुणा एवं पतितों को पावन, अपूर्ण को पूर्ण बनाने का उनका अकल्पनीय सामर्थ्य शास्त्रों एवं ज्ञानी गुरुओं के द्वारा ज्ञात होता है, तब उस परमात्मा के प्रति हमारे हृदय में एक अपूर्व प्रेम-भक्ति एवं सम्मान अवश्य ही जागृत होता है और वह जागृत निष्काम प्रीति एवं भक्ति ज्यों-ज्यों विकसित होती रहती है, त्यों-त्यों उसके अपूर्व आनन्द की हम अनुभूति कर पाते हैं। फिर तो उस दिव्य आनन्द के समक्ष भौतिक सुख तुच्छ एवं निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं। उसके प्रति हमारे मन का आकर्षण घटता जाता है। पाँच इन्द्रियों के सुख के लिये किये जाने वाले प्रयास बालकों की विचारहीन धूलि-क्रीड़ा सदृश लगने लगते हैं।

आत्मा को परमात्मा बनाने वाली एक परमात्म-भक्ति ही है—यह सत्य हृदय में अविचल होने के पश्चात् परमात्मा को प्राप्त करने के लक्ष्य के अतिरिक्त भक्त के हृदय में अन्य कोई अभिलाषा-कामना रहती ही नहीं।

प्रभु की भक्ति में लीन बने भक्त को परमात्मा की परमभक्ति ही अन्य प्रत्येक पदार्थ से अधिक श्रेष्ठ ज्ञात होती है, अतः वह भक्त सांसारिक सुखों के लाभ की गणना करके, उसे प्राप्त करने के उपाय के रूप में परमात्मा के दिव्य प्रेम को कदापि नीचे उतरने नहीं देता। उसके हृदय में तो प्रभु की भक्ति ही सर्वस्व होती है।

---

* जिनपूजनसत्कारयोः करणलालसः
खल्वाद्यो देशविरति परिणामः (पू. श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी म.)
देशविरति धर्म का प्राथमिक परिणाम श्री जिनेश्वर देव की पूजा एवं उनका सम्मान करने की लालसा है।

एक भक्त कवि ने तो यहाँ तक कह दिया है कि—'हे अरिहन्त परमात्मा! आपकी भक्ति के सुप्रभाव से जब मैं आपके समान बन जाऊँगा तब मुझे अपार लाभ होने के उपरान्त एक हानि भी होगी कि तत्पश्चात् मैं आपकी भक्ति का लाभ प्राप्त नहीं कर सकूँगा।'

भक्त-हृदय के ये उद्गार 'भक्ति' पदार्थ के अमृतानुभव के सूचक हैं।

प्रत्येक आत्मा में परमात्म-स्वरूप विद्यमान है, छिपा हुआ है। वह प्रकट तब ही हो पाता है जब आत्मा परमात्मा की शरण में पहुँचती है, उनकी भक्ति में एकात्म बन जाती है।

शाश्वत सुख, अनन्त आनन्द और चिन्मय शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने का अनन्य उपाय परमात्मा की प्रीति, भक्ति एवं शरणागति ही है।

वीतराग, सर्वज्ञ श्री अरिहन्त परमात्मा की भक्ति करने के प्रमुख साधन—उनका नाम उनकी मनोहर मूर्त्ति, उनके जीवन की पूर्व एवं उत्तर अवस्था और उनकी प्रभुता है।

प्रभु के नाम का स्मरण, प्रभु की मूर्ति के दर्शन, वन्दन एवं पूजा, प्रभु के जीवन की पूर्व एवं उत्तर अवस्थाओं का चिन्तन-मनन और प्रभु की प्रभुता अर्थात् अरिहन्त परमात्मा के आर्हन्त्य का मनन एवं ध्यान करने से देहभाव का विलय होते ही आत्म-स्वरूप में तल्लीनता आने लगती है।

श्री अरिहन्त परमात्मा के नाम स्मरण में से भव-ताप-निवारक ऊष्मा उत्पन्न होती है। स्मरण से हमारे चित्त पर मंगलकारी प्रकृष्ट शुभ भाव की छाप पड़ती है।

नाम स्मरण संकट के समय की जंजीर है। नाम-स्मरण भव रूपी वन का पथ प्रदर्शक है।

तात्पर्य यह है कि श्री अरिहन्त परमात्मा के नाम स्मरण में अपार शक्ति है। मोह रूपी महा विष को नष्ट करने वाला भावामृत इस नाम-स्मरण में से प्रवाहित होता है।

भेद की दीवारों को धराशायी करने में नाम स्मरण वज्र के समान है।

शब्द की अपेक्षा अनेक गुनी शक्ति आकृति में है, चित्र में है, मूर्ति में है और उसमें श्री वीतराग अरिहन्त परमात्मा की सौम्य रसमग्न प्रतिमा का स्थान अग्रगण्य है।

सूरिपुरन्दर श्री हरिभद्र सूरीश्वरजी ने फरमाया है कि 'हे तीर्थंकर परमात्मा ! मोर को देखकर दूर भागने वाले भुजंगों की तरह आपकी प्रशान्त मूर्ति के दर्शन मात्र से कर्म रूपी भुजंग तुरन्त दूर, बहुत दूर भागने लगते हैं।'

श्री जिन प्रतिमा को श्री जिनराज तुल्य कह कर शास्त्रवेत्ता महर्षियों ने उक्त विधान का स्वागत किया है।

उसी प्रकार से श्री अरिहन्त परमात्मा के जीवन की पूर्व एवं उत्तर अवस्था पर निरन्तर मनन करने से स्वार्थांधता का क्रमशः क्षय होता है और परमार्थ परायणता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है, और अष्ट महा प्रातिहार्य युक्त समवसरण में बिराजमान श्री तीर्थंकर परमात्मा का दर्शन और ध्यान प्राणियों को प्रभु का प्रेमी बनाता है।

इस प्रकार आत्म स्वरूप को प्राप्त करने और उसकी अनुभूति करने का सरलतम मार्ग भक्ति योग है।

आध्यात्मिक साधना में श्री अरिहन्त परमात्मा किस तरह आलम्बनभूत होते हैं उस सम्बन्ध में हम शास्त्र सम्मत चिन्तन करें जिससे वह मुमुक्षु साधकों को साधना करने में अत्यन्त हितकर एवं प्रेरक सिद्ध हो।

किसी भी कार्य की उत्पत्ति तदनुकूल कारण—सामग्री प्राप्त होने पर एवं कर्त्ता के उनका प्रयोग करने पर ही होती है।

कारण सामग्री में मुख्यतः उपादान, निमित्त तथा उसके अनुरूप सहयोगी पदार्थों का समावेश होता है।

उदाहरणार्थ यदि हम घड़े का विचार करें तो घड़े की उत्पत्ति, उसका उपादान कारण मिट्टी, निमित्त कारण डंडा, चक्र आदि और सहयोगी सामग्री में उसके योग्य भूमि आदि का योग प्राप्त हो तब कुम्भकार के द्वारा होती है।

इसी तरह प्रत्येक मुमुक्षु साधक का साध्य मोक्ष अर्थात् आत्मा के पूर्ण, विशुद्ध स्वरूप को प्रकट करना है।

इस मोक्ष रूपी साध्य की सिद्धि में उपादान—कारण स्वयं आत्मा है और प्रधान निमित्त श्री अरिहन्त परमात्मा हैं। आर्य-क्षेत्र, उत्तम कुल, उच्च जाति आदि सहयोगी सामग्री हैं।

साधक यदि अपनी मोक्ष साधना में इन कारणों का, उनकी सामग्री का यथार्थ रूप से उपयोग करे, प्रयोग में लाये तो ही उसका साध्य मोक्ष सिद्ध हो सकता है।

संसार के समस्त जीव सत्ता से शिव-सिद्ध के समान हैं, अर्थात् प्रत्येक जीवात्मा अपने मोक्ष-शुद्ध स्वरूप का उपादान है; परन्तु जब तक उसे शुद्ध देव-गुरु स्वरूप पुष्ट-निमित्त-कारण प्राप्त न हो, तब तक उसमें उपादान कारणता प्रकट नहीं होती। निमित्त के योग से ही उपादान में कार्य उत्पन्न करने की शक्ति प्रकट होती है।*

श्री अरिहन्त परमात्मा के आलम्बन से जो आत्मा निज आतम स्वरूप में लीन हो जाती है, उसकी उपादान कारणता प्रकट होती है अर्थात् उसकी आत्मा क्रमशः परमात्मा बनती है।

बीज में फल उत्पादन करने की शक्ति उपादान है; परन्तु वृष्टि आदि सामग्री का योग होने पर ही उसमें से अंकुर प्रस्फुटित होते हैं और तत्पश्चात् क्रमशः फल रूपी कार्य सिद्ध होता है।

---

* उपादान आतम सही रे पुष्टालंबन देव।
उपादान कारण पणे रे, प्रगट करे प्रभु सेव॥

(पू. श्री देवचन्द्रजी म)

इस तरह मोक्ष रूपी कार्य का उपादान (बीज) आत्मा स्वयं है। श्री अरिहन्त परमात्मा की भक्ति से अंकुर के रूप में सम्यग् दर्शन गुण की प्राप्ति होती है, तत्पश्चात् ही क्रमशः मोक्ष रूपी फल प्राप्त होता है।

इस प्रकार किसी भी भव्यात्मा को धर्म-प्रशंसा रूपी बीज की प्राप्ति से प्रारम्भ होकर क्रमशः प्राप्त होने वाली मोक्ष-पद तक की प्रत्येक भूमिका श्री अरिहन्त परमात्मा के अनुग्रह के प्रति अनुगृहीत है। उनके आलम्बन के विना कोई भी भव्य आत्मा स्वयं अथवा अन्य किसी निमित्त के आलम्बन से मोक्षदायी आध्यात्मिक भूमिकाओं में न तो आगे बढ़ सकती है और न अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकती है।*

श्री अरिहन्त परमात्मा ही एक ऐसे अद्वितीय विश्वेश्वर हैं कि जिनके प्रकृष्ट शुद्ध भाव का—उत्कृष्ट भावदया का अखण्ड प्रभाव सम्पूर्ण विश्व पर अपना वर्चस्व धारण करता है।

इस भावना में भव विनाशक शक्ति है। श्री अरिहन्त की भाव सहित भक्ति से यह शक्ति प्रकट होती है। अर्थात् जीव को भव सागर से पार करने में केवल अरिहन्त परमात्मा ही महान् जलयान के रूप में माने जाते हैं और जिससे मुमुक्षु गण केवल उनकी शरण पाकर स्वयं को कृतकृत्य अनुभव करते हैं।

पूर्णानन्दमय, पूर्ण गुणवान श्री वीतराग अरिहन्त परमात्मा की अद्भुत महिमा, उनके साथ अपना सम्बन्ध, सम्पूर्ण जीव लोक के प्रति उनके असंख्य उपकार, उनकी स्तुति-वन्दना के रूप में भक्ति का फल आदि विषयों पर पावन प्रकाश डालने वाली 'वीतराग स्तोत्र' एक प्रेरक कृति है।

उसका एकाग्रता से किया गया गान, अर्थ चिन्तन, भाव-भक्ति हमारे हृदय में श्री अरिहन्त परमात्मा की सच्ची-पूर्ण प्रीति एवं भक्ति जागृत करती है।

जिन-भक्ति जनित उस कृति के प्रथम प्रकाश पर अब हम अपना ध्यान केन्द्रित करें।

---

* अस्य अभयस्य, भगवद्भ्य एव न स्वतो नाप्यन्येभ्यः सिद्धिः इति।
'अभयदयाणं' पद की टीका एवं पंजिका —'ललितविस्तरा'

उत्कृष्ट जिन-भक्ति-प्रकाशक

□

वीतराग स्तोत्र, प्रथम प्रकाश

□

जिनकी महिमा का पार नहीं है, जिनमें सर्व भव-भय-हर सामर्थ्य है, समस्त इच्छाओं को उत्कृष्ट विश्व-प्रेम में रूपान्तरित करने की अकल्पनीय शक्ति है, उन श्री वीतराग अरिहन्त परमात्मा की उत्कृष्ट भक्ति से ओत-प्रोत वीतराग-स्तोत्र के प्रथम प्रकाश में अब हम अपनी समग्रता को भावपूर्वक स्नान करायें।

य: परात्मा परंज्योति:, परम: परमेष्ठिनाम् ।
आदित्यवर्णं तमस: परस्तादामनन्ति यम् ।।१।।

अर्थ—जो समस्त संसारी जीवों से श्रेष्ठ, केवल ज्ञानी एवं परमेष्ठियों में प्रधान हैं, जिन्हें पण्डितगण अज्ञान के पार-गामी एवं सूर्य के समान पूर्ण ज्योतिर्मय उद्योत करने वाला मानते हैं।(१)

सर्वे येनोदमूल्यन्त, समूला: क्लेशपादपा: ।
मूर्ध्ना यस्मै नमस्यन्ति, सुरासुरनरेश्वरा: ।।२।।

अर्थ—जिन्होंने राग-द्वेष आदि समस्त क्लेश-वृक्षों को मूल से उखाड़ डाला है; जिन्हें सुर, असुर, मनुष्य एवं उनके अधिपति शीश झुकाकर प्रणाम करते हैं—अर्थात् जो तीन लोकों के प्राणियों के लिये वन्दनीय पूजनीय है।(२)

प्रावर्त्तन्त यतो विद्या:, पुरुषार्थ प्रसाधिका: ।
यस्य ज्ञानं भवद्-भावि-भूत-भावावभासकृत् ।।३।।

अर्थ—जिनके द्वारा पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली शब्द आदि विद्यायें प्रवर्तित हुई हैं; जिनका ज्ञान वर्तमान, भावि एवं भूत—तीनों कालों के समस्त भावों को प्रकट करने वाला है, प्रकाशित करने वाला है।(३)

यस्मिन् विज्ञानमानन्दं, ब्रह्म चैकात्मतांगतम् ।
स श्रद्धेयः, स च ध्येयः, प्रपद्ये शरणं च तम् ।।४।।

अर्थ—जिनमें विज्ञान—केवल ज्ञान, आनन्द-अव्यावाध सुख एवं ब्रह्म-परमपद, ये तीनों एकीकृत हैं, एक रूप हैं, वे (परमात्मा ही) श्रद्धेय हैं एवं ध्येय हैं। मै उनकी शरण अंगीकार करता हूँ।(४)

तेन स्यां नाथवांस्तस्मै, स्पृहयेयं समाहितः ।
ततः कृतार्थो भूयासं, भवेयं तस्य किंकरः ।।५।।

अर्थ—उन परमात्मा के कारण मैं सनाथ हूँ. उन परमात्मा को मैं समाहित—एक मन वाला बनकर चाहता हूँ, मैं उनसे कृतार्थ हूँ और मैं उनका सेवक हूँ।(५)

तत्र स्तोत्रेण कुर्यां च पवित्रां स्वां सरस्वतीम् ।
इदं हि भवकान्तारे, जन्मिनां जन्मनः फलम् ।।६।।

अर्थ— उन परमात्मा की स्तुति—गुणगान करके मैं अपनी वाणी को पवित्र करता हूँ क्योंकि इस भव अटवी में प्राणियों के जन्म का यही एक फल है।(६)

क्वाहं पशोरपि पशुर्वीतरागस्तवः क्व च ।
उत्तितीर्षुररण्यानिं, पद्भ्यां पङ्गुरिवास्म्यतः ।।७।।

अर्थ—पशु से भी पशु जैसा मैं कहाँ ? और वृहस्पति से भी असम्भव ऐसी वीतराग की स्तुति कहाँ ? इसलिये दो पाँवों से महान् अटवी को पार करने के अभिलाषी पंगु व्यक्ति के समान मैं हूँ, अर्थात् मेरा यह आचरण अत्यन्त साहसी होने के कारण हास्यास्पद है। (७)

तथापि श्रद्धामुग्धोऽहं, नोपालभ्यः स्खलन्नपि ।
विश्रृंखलापि वाग्वृत्तिः, श्रद्दधानस्य शोभते ।।८।।

अर्थ—तो भी श्रद्धा से मुग्ध बना मैं परमात्मा की स्तुति करने में स्खलना होने पर भी उपालम्भ का पात्र नहीं हूँ, क्योंकि श्रद्धालु व्यक्ति की सम्बन्ध-विहीन वाक्य रचना भी सुशोभित लगती है।(८)

त्रिलोकीनाथ, विश्व-चिन्तामणि, जगद्गुरु, परम करुणा-निधान, शरण दाता श्री अरिहन्त परमात्मा की सर्वोत्तम गुण-गरिमा एवं उनकी शरण में आये हुए भक्त के भक्ति-सिक्त हृदय की प्रार्थना (भावना) का कैसा कार्य-कारण भाव है, उसका भाव-वाही सुन्दर वर्णन इस स्तोत्र में हुआ है जिसे हम देखें।

शरण्य परमात्मा की गुण गरिमा :—	शरणागत भक्त की मनोभावना : —
यः परमात्मा परंज्योति परमः परमेष्ठिनाम्	स श्रद्धेयः स च ध्येय
जो परमात्मा, परं ज्योति और परमेष्ठियों में प्रधान हैं।	वे श्रद्धेय हैं और ध्येय हैं।
यम् तमसः परस्ताद् आदित्यवर्णं आमनन्ति	तम् च प्रपद्ये शरणं
जिन्हें विद्वान् लोग अज्ञान से परे और सूर्य के समान तेजस्वी मानते हैं।	उनकी शरण में अंगीकार करता हूँ।
येन सर्वे क्लेशपादपाः समूलाः उदमूल्यन्त	तेन स्यां नाथवान्
जिन्होंने राग आदि क्लेश-वृक्षों को समूल उखाड़ डाला है।	उनके कारण मैं सनाथ हूँ।
यस्मै नमस्यन्ति सुरासुर नरेश्वराः	तस्मै स्पृहयेयं समाहितः
जिन्हें सुर, असुर, मनुष्य एवं उनके अधिपति शीश झुकाकर नमस्कार करते हैं।	उन्हें समाहित मन वाला मैं चाहता हूँ।

यतः पुरुषार्थं प्रसाधिकाः विद्या प्रावर्तन्त	ततः कृतार्थो भूयासं
जिनके द्वारा पुरुषार्थं सिद्ध करने वाली विद्या प्रवर्तित हुई हैं।	उनसे मैं कृतार्थं होता हूँ।
यस्य ज्ञानं भवद् भावि- भूत-भावावभासकृत्।	तस्य किंकरः भवेयम्
जिनका ज्ञान वर्तमान, भावि और भूतकाल के भावों को प्रकट करने वाला है।	उनका मैं सेवक हूँ।
यस्मिन् विज्ञानमानन्दं ब्रह्मचैकात्मतां गतम्	तत्र स्तोत्रेण कुर्यां च पवित्रां स्वां सरस्वतीम्
जिनमें विज्ञान (केवलज्ञान) आनन्द एवं ब्रह्म-परमपद—ये तीनों एक रूप हैं।	उनकी स्तुति करके मैं अपनी वाणी को पावन करता हूँ।

विवरणः—कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित वीतराग स्तोत्र के इस प्रथम प्रकाश में अनेक रहस्य सागर के तल में छिपे रत्नों की तरह छिपे हुए हैं, वे साधक को आत्म-साधना में यथार्थ मार्ग-दर्शन एवं गतिशीलता प्रदान करने वाले हैं।

इस महाप्रभावशाली स्तोत्र में—

समस्त गुणों में चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए श्री वीतराग अरिहन्त परमात्मा के अनुपम गुणों की स्तुति करके परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट दिग्दर्शन कराया गया है; अर्थात् त्रिभुवनपति श्री अरिहन्त परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का हृदयस्पर्शी निरूपण किया गया है। उसके साथ ही साथ परमात्म-दर्शन के ठोस उपाय भी स्पष्ट किये गये हैं।

प्रथम साढ़े तीन छन्दों (गाथा) में उल्लिखित गुणों द्वारा श्री वीतराग अरिहन्त परमात्मा के असाधारण गुणों की वास्तविक स्तुति की गई है और

उन गुणों को पीछे के दो छन्दों में वर्णित श्रद्धेय-ध्येय आदि के कारण के रूप में बताकर प्रभु की अकल्पनीय, अचिन्त्य-शक्ति की महिमा प्रदर्शित की गई है। वह निम्नलिखित है :—

(१) जो परमात्मा है, अर्थात् जो समस्त संसारी जीवात्माओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि उन्होंने अपना शुद्धात्मस्वरूप स्वयं के बल से पूर्णतः प्रकट किया है। जो केवल ज्ञान की ज्योति स्वरूप हैं और परमपद में स्थित पुण्यशाली परमेष्ठि भगवंतों में प्रधान हैं, प्रथम हैं, वे ही श्री वीतराग परमात्मा श्रद्धेय हैं, ध्यान करने योग्य हैं।

श्रद्धा श्रेष्ठतम तत्त्व के प्रति ही की जा सकती है, उसे श्रेष्ठतम तत्त्व में ही प्रतिष्ठित किया जा सकता है। 'परमात्मा' यह शब्द ही उनके श्रेष्ठतम आत्म-तत्त्व की प्रतीति कराता है।

इस प्रकार का श्रेष्ठतम आत्म-तत्त्व श्रेष्ठ ज्योति-स्वरूप है और विश्व कल्याणकारी पंच परमेष्ठि भगवंतों में भी श्रेष्ठ है, प्रथम है, इसलिये ही वह ध्यान करने योग्य है जो ध्याता को ध्येय-स्वरूप बना सकता है, अर्थात् ध्याता ध्यान के माध्यम से ध्येयाकार को प्राप्त कर सकता है।

(२) जो अज्ञान रूपी अन्धकार से परे सूर्य सदृश केवलज्ञानमय ज्योति प्रकाशित करने वाले हैं, ऐसे परमात्मा की शरण मैं स्वीकार करता हूँ।

उसका कारण यह है कि अज्ञान रूपी अंधकार में घुटती आत्मा को सच्चे मार्ग पर चलने के लिये ज्ञान रूपी प्रकाश का आश्रय अवश्य लेना ही पड़ता है। जो परमात्मा पूर्ण ज्ञान ज्योति स्वरूप हैं उनका आश्रय लेने वाले व्यक्ति का अज्ञान रूपी अंधकार अवश्य नष्ट होता है और उसका जीवन स्वरूप—बोध प्राप्त करके ज्योतिर्मय बन जाता है, इसलिये ही वे शरण लेने योग्य हैं।

शीत से ठिठुरता मनुष्य ताप का आश्रय लेता है जिससे उसकी शीत उड़ जाती है। इस बात में कोई व्यक्ति शंका नहीं करता, उसी प्रकार से केवलज्ञानमय श्री अरिहन्त परमात्मा की शरण अंगीकार करने वाला पुण्यात्मा

अज्ञान रूपी अंधकार से विमुक्त हो जाता है, यह बात भी शंकातीत है। उसमें शर्त इतनी ही है कि अनन्य भाव से श्री अरिहन्त परमात्मा की शरण लेना।

(३) जिन्होंने राग-द्वेष आदि समस्त प्रकार के क्लेश रूपी वृक्षों को समूल उखाड़ डाला है, ऐसे परमात्मा के कारण मैं सनाथ हूँ; क्योंकि जिन्होंने राग-द्वेष का समूल उच्छेद कर दिया है, ऐसे परमात्मा के सान्निध्य मात्र से भी राग द्वेष आदि आन्तरिक शत्रु आक्रमण करने में समर्थ नहीं हो पाते।

जिस प्रकार सूर्य के ताप के समक्ष कोहरा नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार से राग-द्वेष रहित श्री अरिहन्त परमात्मा के स्वाभाविक तेज के समक्ष राग-द्वेष नहीं ठहर सकते। इस अकाट्य नियम के अनुसार उनकी शरण में आया हुआ प्राणी भी राग-द्वेष को परास्त करने में सक्षम होता है।

कहा है कि 'योग-क्षेमकृन्नाथः।' नाथ उसे कहा जाता है जो हमें अप्राप्त की प्राप्ति कराये और क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तु की सुरक्षा कराये।

श्री अरिहन्त परमात्मा में ये दोनों योग्यताएँ हैं, अतः उन्हें विश्व का नाथ कहा गया है और उनकी शरण में आया व्यक्ति वास्तव में स्वयं को सनाथ अनुभव करता है।

चक्रवर्ती एवं देवेन्द्र की शरण में जाने से भी राग-द्वेष के आक्रमण को निष्फल करने का दुष्कर कार्य दुष्कर ही रहता है अर्थात् पूर्ण नहीं होता। वही दुष्कर कार्य श्री अरिहन्त परमात्मा को नाथ के रूप में स्वीकार करके उनका स्मरण करने से सरल हो जाता है, अर्थात् राग-द्वेष सर्वथा निष्क्रिय हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि वे अपने शरणागत को वास्तविक सनाथता बक्षीस करते हैं।

(४) जिन्हें सुरासुर नरेश्वर नमस्कार करते हैं अर्थात् जो त्रिभुवन द्वारा पूजनीय हैं, ऐसे परमात्मा की मैं एकाग्रचित्त होकर स्पृहा करता हूँ।

जो पूजनीय होते हैं वे पवित्र ही होते हैं और जो पवित्र और पूजनीय हों उनके सान्निध्य की सब इच्छा करते हैं। ऐसा अद्‌भुत आकर्षण इन दो गुणों में विद्यमान रहता है।

(५) जिनके द्वारा धर्म आदि पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाली समस्त प्रकार की विद्याओं का प्रारम्भ हुआ है, उन परमात्मा को पाकर मैं कृतार्थ हुआ हूँ; क्योंकि कृतार्थता की अनुभूति तब ही होती है कि जब आत्मा को अपनी अन्तिम कामना पूर्ण होती ज्ञात होती है।

बस, इसी प्रकार से सम्पूर्ण विद्या के प्रभव स्थान स्वरूप परमात्मा को पाकर वह कृतार्थता का अनुभव करता है, अर्थात् उसके समस्त कार्य पूर्ण होते हैं। सम्पूर्ण शुद्ध आत्म-स्वभाव प्राप्त करने के रूप में उसकी मनोकामना पूर्ण होती है।

जिस मनुष्य को परमात्मा की पूर्ण कृपा से शुद्ध निजात्म-स्वरूप को प्राप्त करने की आध्यात्मिक विद्या प्राप्त हो जाती है, वह साधक पूर्णता की पग-डंड़ी का पथिक बनता है। तत्पश्चात् उसे शुद्ध आत्म-स्वरूप को पूर्णतया प्रकट करने के साध्य की सिद्धि अत्यन्त समीपवर्ती प्रतीत होती है, जिससे मानों उसे साध्य की सिद्धि प्राप्त हो गई हो, उस प्रकार से वह स्वयं को कृतार्थ मानता है, महान् भाग्यशाली समझता है।

दीर्घकालीन प्रवास के अन्त मे जब मनुष्य अपने गाँव की सीमा में प्रविष्ट होता है उस समय उसके नेत्रों एवं अन्तःकरण में जो कृतार्थता छाती है, उससे भी अधिक कृतार्थता का एक साधक को अपना साध्य निकटतर प्रतीत होने पर अनुभव होता है।

(६) जिनका ज्ञान त्रिकाल विषयक समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है, ऐसे परमात्मा का मैं दास हूँ।

दासता अधिक सम्पत्तिशाली-समृद्धिशाली व्यक्ति की की जाती है। परमात्मा अनन्त केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी के स्वामी हैं, अतः उनकी दासता स्वीकार करने से उनका कृपा-पात्र बना जा सकता है, जो (कृपा) दास की दरिद्रता नष्ट करके अनन्त केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी को समर्पित करता है।

स्वयं की अल्पता का भान एवं दु;ख, किसी अन्य की सहायता के बिना उसे दूर करने की अपनी असमर्थता का ज्ञान कराता है और वह अल्पता

अन्य अल्पात्मा की दासता स्वीकार करने से दूर होने की सम्भावना नहीं है, परन्तु परिपूर्ण ज्ञानी परमात्मा की दासता ही उसे दूर कर सकती है, ऐसा दृढ़ निश्चय कराता है अतः साधक मनुष्य श्री अरिहन्त परमात्मा का दास बने बिना रह नहीं सकता। श्री अरिहन्त परमात्मा को ही सर्वस्व मानकर जीवन जीने में ही वह अपना जीवन सार्थक मानता है।

(७) जिस परमात्मा में विज्ञान (केवलज्ञान), आनन्द एवं ब्रह्म एक-रूप हो गये हैं, उस परमात्मा के गुण-गान इस स्तोत्र द्वारा करके मैं अपनी वाणी को पवित्र करता हूँ।

विज्ञान शब्द अनन्त ज्ञान, आनन्द शब्द अव्याबाध सुख और ब्रह्म शब्द स्वरूप-दर्शन एवं स्वरूप-अवस्थान रूपी अनन्त दर्शन एवं अनन्त चारित्र का द्योतक है।

इस प्रकार के अनन्त ज्ञान आदि चतुष्टय के स्वामी परमात्मा की स्तुति करने से वाणी पवित्र होती ही है। पूर्ण पुरुष की पूर्णता का गान स्व आत्मा की अपूर्णता का ध्यान दिलाने में अनन्य सहायक होता है और स्व आत्मा को पूर्णता प्राप्त करने की पावन प्रेरणा का दान करता है।

इस प्रकार के परम-गुणी, परम कृपालु परमात्मा सूर्य की तरह अपने स्वभाव से ही समग्र विश्व पर अपना परम पावन प्रकाश प्रसारित करके समस्त प्राणियों को पावन बनाने का स्वाभाविक सामर्थ्य रखते हैं।

मधुरता का दान करने के लिये शर्करा को कुछ भी करना नहीं पड़ता। वह मधुरता तो उसके कण-कण में व्याप्त है; परन्तु जिस मनुष्य को उस मधुरता की आवश्यकता होती है, वह उक्त शर्करा को हाथ में लेकर मुँह में डालता है तब उसे मधुरता का अनुभव होता ही है; उसी प्रकार से करुणा निधान श्री अरिहन्त परमात्मा को प्राणी को पूर्ण एवं पावन बनाने के लिये कुछ भी करना नहीं पड़ता। जिस व्यक्ति को वैचारिक अपवित्रता खलती है, स्वार्थ मस्तक-शूल की तरह वेदना पहुँचाता है, पाप आँख में गिरे कण की तरह चुभता है, वैसा मुमुक्षु भाव पूर्वक श्री अरिहन्त परमात्मा की शरण ग्रहण करके उनकी पावन करने वाली प्रकृति का अनुभव कर सकता है।

परन्तु जिस प्रकार दिन भर सूर्य का प्रकाश प्रसारित होने पर भी प्रज्ञाचक्षु (अन्धा) व्यक्ति अथवा तहखाने में बैठे व्यक्ति को अथवा दिन में देख सकने में असमर्थ उलूक आदि पक्षियों को उस ज्योति का लाभ नहीं मिलता, उसी प्रकार से अभव्य, दुर्भव्य अथवा मिथ्यामति वासित प्राणी को भी परमात्मा के परम पवित्र प्रकाश की प्रतीति नहीं होती, जिससे उसकी आत्मा पवित्र हो नहीं पाती, वह कोई परमात्मा के सामर्थ्य का दोष नहीं है, परन्तु उस प्राणी की पात्रता का ही दोष है।

अतः मुमुक्षु, सुज्ञ साधक को अपने मन-मन्दिर को पावन करने के लिये हिंसा, विषय-कषाय आदि दोषों का त्याग करके अहिंसा, संयम, तप आदि अनुष्ठानों के द्वारा एवं परमात्मा का नाम-स्मरण, जाप, गुण-कीर्तन, ध्यान आदि सुकृत के निरन्तर सेवन से निज अन्तःस्तल को पवित्रतम बनाना चाहिये।

यदि बर्तन का पैंदा स्वच्छ नहीं होगा तो उसमें जो उत्तम प्रवाही पदार्थ भरा जायेगा वह भी अशुद्ध हो जायेगा, अतः पहले बर्तन स्वच्छ करना चाहिये और तत्पश्चात् उसमें घी, दूध आदि पदार्थ डालने चाहिये।

इसी प्रकार से अन्तःकरण कषायों की कालिमा से युक्त होता है तब तक वहाँ परमात्मा का पावन प्रकाश अपावन को पावन करने के अपने स्वभाव में यथार्थ रूप से सफल नहीं हो सकता।

नियम है कि जिस पदार्थ की सतह शुद्ध, स्निग्ध एवं समतल होती है वह पदार्थ प्रकाश की किरणों को अधिकाधिक आकृष्ट कर सकता है एवं उनका संचय कर सकता है। यह नियम अन्तःकरण की शुद्धि, दयार्द्रता एवं समता-वृत्ति पर भी प्रभावी होता है।

इस प्रकार के अन्तःकरण में अन्तरतम आत्मा का परमात्म-प्रकाश निश्चित रूप से फैलकर स्व सत्ता को स्थापित करता है; जिससे परमात्म-दर्शन एवं मिलन की उत्कट अभिलाषा परिपूर्ण होती है।

इस प्रथम प्रकाश में श्री वीतराग अरिहन्त परमात्मा का स्वरूप प्रदर्शित करने के साथ परमात्म-दर्शन एवं मिलन के उपायों का भी स्पष्ट निर्देश है, वह इस प्रकार है —

"स श्रद्धेयः" अर्थात् वही श्रद्धेय है। इस वाक्य से प्रीति एवं भक्ति दोनों ग्रहण होती हैं।

जो सचमुच श्रद्धा करने योग्य होता है उस पर ही प्रीति और भक्ति उत्पन्न होती है। माता का वात्सल्य बालक में माता के प्रति पूर्ण श्रद्धा जागृत करता है, उसी प्रकार से भगवान का अपार वात्सल्य, करुणा, भाव-दया भक्त को भगवानमय बनाते हैं।

परमात्मा की अखण्ड प्रीति एवं निष्काम भक्ति परमात्म-दर्शन के प्रधान साधन हैं।

और "स च ध्येयः" अर्थात् वही ध्यान करने योग्य है, यह पद परमात्मा का सभेद और अभेद प्रणिधान करने की सूचना देता है और वह मुख्यतः वचन एवं असंग अनुष्ठान का द्योतक है।

सर्व गुण सम्पन्न परमात्मा को ध्येय बना कर ही ध्याता ध्येय स्वरूप बन सकता है, यह नियम त्रिकालाबाधित है।

स्वभाव से परिपूर्ण आत्मा को अपूर्ण का ध्यान सब प्रकार से हानिप्रद होता है।

उसके पश्चात् के पदों द्वारा श्रद्धा एवं ध्यान को अर्थात् उपर्युक्त प्रीति, भक्ति, वचन एवं असंग अनुष्ठान को पुष्ट करने वाले साधनों का निर्देश किया गया है।

(१) शरण स्वीकार करके सर्व-समर्पण-भाव प्रदर्शित किया गया है।

उसी के शरण में जाया जाता हैं, जो शरणागत की पूर्णरूपेण सुरक्षा करने में समर्थ हो।

सुरक्षा वही कर सकता है जो सर्वथा सुरक्षित होता है, अपनी रक्षा के लिये किसी सांसारिक अथवा दैवी सहायता की तनिक भी अपेक्षा रखने वाला न हो।

इस प्रकार की योग्यता वाले श्री अरिहन्त परमात्मा की शरण में जाने वाले व्यक्ति के मन में सदा एक ही भावना रहती है कि यह परमात्मा सुकृतों के सागर हैं, अनन्त गुण-गण के महासागर हैं।

इस प्रकार की भावना साधक को परमात्मा के समस्त सुकृतों की भूरि-भूरि अनुमोदना एवं स्व-दुष्कृतों की तीव्रतर निंदा गर्हा करते रहने की सद्बुद्धि प्रदान करती है।

(२) 'नाथवान' शब्द सनाथता एवं स्वामी-सेवक भाव का द्योतक है। सच्चा 'स्वामी-सेवक-भाव' सेवक को सेव्य स्वरूप बनाता ही है।

जिनकी परम विशुद्ध आत्मा पर देश, काल अथवा कर्म किसी का स्वामित्व नहीं है, उन श्री अरिहन्त परमात्मा को स्वामी के रूप में स्वीकार कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य करने से ही, आत्मा में देश, काल एवं कर्म के त्रिभुज को भेदने का सामर्थ्य प्रकट होता है।

अनेक भक्त-कवियों ने जिनकी 'समरथ साहिब' के रूप में उपासना की है, उन परमात्मा को स्वामी बनाना ही देव-दुर्लभ मानव भव में करने योग्य श्रेष्ठ सुकृत है।

(३) 'मैं उनकी स्पृहा, रटन करता हूँ', यह वाक्य परमात्मा के दर्शन एवं मिलन की तीव्र अभिलाषा का द्योतक है।

यह अभिलाषा—कामना किसी लौकिक पदार्थ की कामना नहीं है, परन्तु समस्त कामनाओं से सर्वथा मुक्त परमात्मा के दर्शन एवं मिलन की कामना स्वरूप होकर सब तरह से स्व-पर कल्याणकारी है।

जो व्यक्ति परमात्मा का स्मरण, मनन, भजन, ध्यान करता है वह सर्वथा कृतकृत्यता का अनुभव करता है।

हमारे जीवन की केन्द्रीय अभिलाषा क्या है? परमात्मा को प्राप्त करने की है अथवा जन्म-मरणकारी सामग्री प्राप्त करने की है?

प्रत्येक विवेकी मनुष्य को यह प्रश्न स्वयं को पूछना चाहिये और सम्यग्दृष्टि देव भी जिस जन्म की अभिलाषा करते हैं उप धर्म से युक्त मानव-भव का परमात्मा की प्रीति एवं भक्ति के द्वारा श्रेष्ठ मूल्यांकन करना चाहिये।

(४) 'उनसे मैं कृतार्थता का अनुभव करता हूँ" यह वाक्य परमात्म-दर्शन एवं मिलन के पश्चात की साधक की अनुभूति का द्योतक है। इस वाक्य में अमृत-भाव-सिक्त मन का प्रकट उल्लास है।

सरिता को कृतार्थता का अनुभव कब होता है? जब वह सागर में सर्वथा विलीन हो जाती है तब।

जब इस प्रकार की कृतार्थता का अनुभव होता है तब 'कृतार्थोऽहं' जैसे हृदय-स्पर्शी शब्द साधक के हृदय में साकार होते हैं।

इस प्रकार का अनुभव तब होता है जब साधक साध्यमय बन जाता है।

साधक परमात्मामय तब बन सकता है जब त्रिलोक में अन्य कुछ भी साधना करने योग्य नहीं लगता, परन्तु एक आत्मा ही सचमुच साध्य समझी जाती है।

इस प्रकार की साधना से जीवन में कृतार्थता का सूर्य उगना स्वाभाविक है।

(५) "मैं उनका दास हूँ" यह वाक्य स्व जीवन जिनसे कृतार्थ हुआ है, उन परमात्मा का दास बनने में ही जीवन को धन्य मानने वाले साधक के अपूर्व समर्पण-भाव, प्रीति एवं भक्ति बताने वाला है, भक्ति-भाव के शिखर स्वरूप अहोभाव का द्योतक है।

जिस व्यक्ति को चार गति के दुःख सचमुच परेशान करते हैं, वह व्यक्ति वैद्यराज की शरण में जाने वाले रोगी की तरह परमात्मा की शरण में जाता है, उनका दासत्व स्वीकार करता है, उनका परम सेवक बन कर जीवन में गौरव अनुभव करता है।

(६) "उनके गुण-गान करने में मैं अपनी वाणी को पवित्र बनाता हूँ" यह वाक्य परमात्मा के साथ एक-रूप बने साधक की अवधूत दशा का द्योतक है; अर्थात् परमात्मा के दास बने साधक को अब परमात्मा की स्तुति, उनका स्मरण, उनके ही नाम का जाप, उनका ही ध्यान और उनके ही गुणों की अनुप्रेक्षा करने के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय में आनन्द अथवा रस नहीं आता।

"झील्या जे गंगा-जले, ते छिल्लर जल नवि पेसे रे;
जे मालती फूले मोहिया, ते बावल जई नवि वेसे रे।"

उपर्युक्त स्तवन-पंक्तियों का भाव उक्त वाक्य में है।

इस प्रकार इस वीतराग स्तोत्र के प्रथम प्रकाश में प्रीति, भक्ति, वचन एवं असंग अनुष्ठानों के आराधना के संकेत के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने की अद्भुत कला स्पष्ट की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक में भी उक्त चार अनुष्ठानों को लक्ष्य में रखकर भक्ति योग की साधना का मार्ग प्रदर्शित किया गया है जो साधक के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

परमात्मा का विशद स्वरूप और उनका विश्वोपकार

परमात्मा के दो स्वरूप हैं। (१) साकार (२) निराकार।

श्री अरिहन्त साकार परमात्मा हैं।

श्री सिद्ध निराकार परमात्मा हैं।

परमात्मा के दोनों स्वरूप शुद्ध निज आत्म-स्वरूप की साधना में अनन्य आलम्बन हैं। आत्मा के सत्य, शुद्ध, चिदानंदमय स्वरूप की यथार्थ पहचान करा कर उसके प्रति श्रद्धा, रुचि उत्पन्न करके और उसमें ही रमण करा कर कर्म-जनित समस्त अशुद्धियों को दूर करने वाले हैं।

अतः उन्हें पारसमणि से भी श्रेष्ठ माना है क्योंकि पारसमणि लोहे
को स्वर्ण बनाती है, परन्तु वह लोहे को स्वयं के समान पारसमणि नहीं बनाती। जबकि ये परमात्मा तो अपने अनन्य भक्त को स्व-तुल्य बनाते हैं, शिव-पद का अधिकारी बनाते हैं, अनन्त अव्याबाध शिव-सुख का भोक्ता बनाते हैं।

प्राथमिक स्तर के साधकों के लिये साकार अरिहन्त परमात्मा का आलंबन उपकारक है।

जिस व्यक्ति को जिस विषय की साधना में दक्षता प्राप्त करनी हो, उस व्यक्ति को उस विषय की प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करनी ही पड़ती है।

भूतल से ऊपर की मंजिल पर पहुँचने के लिये सीढ़ी का आलंबन लेना ही पड़ता है, उसी प्रकार से सर्वोच्च कक्षा पर पहुँचने के लिये प्रारम्भ साकार भक्ति से करना ही पड़ता है।

साधना का यह क्रम नैसर्गिक है, अतः उसका अपलाप करने वाला व्यक्ति आत्म-विकास में अग्रसर होने के बदले पीछे की ओर ढकेला जाता है।

शब्दातीत कक्षा पर पहुँचने के लिये प्रारम्भ में शब्द का आश्रय लेना पड़ता है, उसी प्रकार से परमात्मा के निराकार स्वरूप तक पहुँचने के लिये, उसका अनुभव करने के लिये साकार परमात्म-स्वरूप की उपासना करनी पड़ती है।

उस उपासना के अनेक प्रकार हैं। उनमें मुख्य चार प्रकार हैं, जिन्हें जैन परिभाषा में 'चार निक्षेप' कहा जाता है।

प्रत्येक वस्तु के चार निक्षेप होते हैं।

निक्षेप शब्द वस्तु के प्रकार अथवा स्वरूप का उद्बोधक है।

इन चारों निक्षेपों के स्वरूप को समझ लेने से परमात्मा के विराट् एवं विशद स्वरूप का तथा उनके द्वारा समस्त विश्व पर होने वाले अगणित उपकारों का हमें अनुमान हो सकेगा, जिससे परमात्मा के प्रति जो भक्ति-भावना अपने हृदय में विद्यमान है वह अधिक सुदृढ़ होगी और श्री अरिहन्त परमात्मा ही हमारे लिये अनन्य शरण-योग्य हैं यह निष्ठा अस्थि मज्जावत् बनी रहेगी।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने 'सकलार्हत् स्तोत्र' के एक श्लोक में श्री अरिहन्त परमात्मा के विश्वोपकार की प्रशंसा में फरमाया है—

नामाकृति द्रव्यभावैः पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे-काले च सर्वस्मिन्नर्हतः समुपास्महे ॥२॥

अर्थः—जो तीर्थंकर परमात्मा अपने नाम, आकृति (मूर्ति), द्रव्य एवं भाव स्वरूप अवस्था द्वारा समस्त क्षेत्रों के, समस्त कालों के समस्त प्राणियों को पवित्र करते हैं, उन परमात्मा की हम उपासना करते हैं।

अष्ट महाप्रातिहार्ययुक्त समवसरण में बिराजमान श्री तीर्थंकर परमात्मा अपनी पैंतीस गुणों से युक्त निर्मल वाणी से जिस प्रकार प्राणियों के कर्म-मल को धोकर उन्हें पवित्र करते हैं, उसी प्रकार से उन परमात्मा का नाम, उनकी मूर्ति और उनकी पूर्व-उत्तर अवस्था रूप द्रव्य निक्षेप भी विश्व के प्राणियों को शुभ एवं शुद्ध भाव की उत्पत्ति में परम आलम्बन रूप बनकर निर्मल बनाते हैं।

जिस काल और जिस क्षेत्र में श्री तीर्थंकर परमात्मा साक्षात् सदेह विचरते हैं तब और समवसरण में बिराजमान होकर भाव तीर्थंकर के रूप में धर्म देशना प्रदान करते हैं, तब उनके द्वारा भव्य प्राणियों पर जिस प्रकार के अपार उपकार होते हैं, उसी प्रकार से परमात्मा के नाम, स्थापना एवं द्रव्य निक्षेप भी विश्व के प्राणियों के लिये सदा उपकारक बनते हैं।

धर्म देशना के ग्रतिरिक्त के समय में समीपस्थ प्राणियों का एवं दूर देशों में स्थित भव्य जीवों का परमात्मा के नाम ग्रादि निक्षेप ही परम आलम्बन-स्वरूप वनकर उपकार करते हैं।

स्वयं श्री ग्ररिहन्त परमात्मा के वरद हस्त से दीक्षित स्वयं उन्हीं के शिष्य-मुनिगण ग्रपने जीवन के ग्रन्त समय में ग्रनशन करते हैं तव वे प्रभु के नाम ग्रादि निक्षेपाग्रों के ग्रालम्बन के द्वारा ही समस्त कर्म-बंधनों से मुक्त होकर चार गति रूप संसार को छोड़कर पाँचवीं गति रूप मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

ग्रतः श्री ग्ररिहन्त परमात्मा के नाम, मूर्ति एवं द्रव्य अवस्था रूपी निक्षेप को श्री ग्ररिहन्त स्वरूप मानकर उसकी ग्रनन्य उपासना करने का विधान जैन ग्रागम शास्त्रों में स्थान-स्थान पर किया गया है।

श्री ग्ररिहन्त परमात्मा के ग्रसाधारण उपकार

श्री ग्ररिहन्त परमात्मा, जिस प्रकार उपदेशों के द्वारा मोक्ष एवं मोक्ष-मार्ग के दाता हैं, उसी प्रकार से वे स्वयं भी मोक्षमार्ग स्वरूप हैं।*

जिस प्रकार उनके उपदेश ग्रौर उनकी ग्राज्ञा का पालन करने से भव्य जीवों को मोक्ष मिलता है, उसी प्रकार उनके नाम-स्मरण तथा दर्शन मात्र से भी भव्य जीवों को मोक्ष ग्रौर मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति होती है।

प्रभु-मूर्ति के दर्शन से हृदय में जो शान्त भाव प्रकट होता है, वह दर्शक को ग्रार्त-ध्यान ग्रौर रौद्र-ध्यान से मुक्त करता है। प्रभु-मूर्ति के दर्शन से प्राप्त ग्रप्रमत्त भाव जीव को वास्तविक जागृति की ग्रोर प्रेरित करता है। उच्चतम कोटि की अंहिसा का स्पष्ट दर्शन प्रभु मूर्ति के दर्शन से होता है। विधि एवं बहुमान-पूर्वक प्रतिष्ठित जिनेश्वर परमात्मा की मनहर मूर्ति के दर्शन से ग्रमूर्त ग्रात्म-स्वरूप को मूर्तिमन्त करने का भाव उत्पन्न होता है।

* मग्गो तद्दायारो, सयं च मग्गोत्ति ते पुज्जा।
श्री विशेषावश्यक भाष्य-गाथा २९४८

श्री अरिहन्त परमात्मा की मूर्ति के समान उनका पवित्र नाम भी उतना ही उपकारक है। प्रभु-नाम के स्मरण का अचिंतनीय प्रभाव होने का विधान समस्त आस्तिक दर्शनकारों ने किया है।

श्री महावीर स्वामी परमात्मा का नाम लेने से जो भावना उत्पन्न होती है, वह भावना गोशाला का नाम लेने से हमारे हृदय को स्पर्श नहीं करती, उसका कारण नाम एवं नामी के मध्य स्थित कथंचित् अभेद है।

नाम-स्मरण नामी के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित करके अनामी बनाता है, ख्याति की कामना से मुक्त करने का महान् कार्य करता है।

श्री अरिहन्त परमात्मा की ऐसी एक भी अवस्था नहीं है कि जिसका स्मरण, चिन्तन अथवा ध्यान आदि भव्य जीवों को मोक्ष एवं मोक्ष मार्ग की प्राप्ति न करा सके।

इस प्रकार मोक्ष-मार्ग के दाता और स्वयं मार्ग-स्वरूप श्री अरिहन्त परमात्मा का उपकार अन्य समस्त उपकारों से उच्च स्तर का उपकार है।

किसी भी प्राणी को सम्यक्त्व की प्राप्ति श्री अरिहन्त परमात्मा के चार में से किसी एक निक्षेप की भक्ति करने से ही होती है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्-दृष्टि के दान द्वारा जो उपकार श्री अरिहन्त परमात्मा करते हैं, वह समस्त उपकारियों के उपकार के योग से भी अधिक होता है; क्योंकि सम्यक्त्व मुक्ति का बीज है और बीज का महत्त्व फल की अपेक्षा अधिक होता है यह लोकमान्य तथ्य है।

देह में जो स्थान चक्षु का है, मोक्ष-मार्ग में वह स्थान सम्यग्-दृष्टि का है। अतः उसके दाता श्री अरिहन्त हमें प्रियतम लगने ही चाहिये। यदि हमें वे प्रियतय न लगें तो समझना चाहिये कि हमारी भक्ति कच्ची है।

किसी भी वस्तु के कम से कम चार निक्षेपा प्रसिद्ध हैं। (१) नाम, (२) आकृति, (३) द्रव्य [अतीत, अनागत गुणयुक्त वस्तु] (४) भाव [वर्तमान में गुणयुक्त वस्तु]।

तात्पर्य यह है कि विश्व के जो कोई पदार्थ हैं वे समस्त नाम, आकृति. द्रव्य एवं भाव इन चारों से युक्त होते हैं।

नाम आदि चार निक्षेपायुक्त पदार्थ में ही शब्द, अर्थ एवं बुद्धि का परिणाम होता है।

घड़े के उदाहरण से भी यह तथ्य स्पष्ट समझा जा सकता है।

घड़े में ये चार निक्षेप अथवा धर्म विद्यमान होने का बोध 'घड़ा' शब्द बोलते ही होने लगता है।

इस प्रकार विचार करते हुए यह बात स्पष्टतया समझी जा सकती है कि नाम, आकृति एवं द्रव्य ये तीनों पदार्थ के ही पर्याय हैं, धर्म हैं। इस लिये यह भाव के अंगभूत ही है और इस कारण से नाम आदि भी भाव की तरह विशिष्ट अर्थ-क्रिया के साधक बन जाते हैं।

(१) नाम-निक्षेप–पदार्थ का स्वयं का नाम।
उदाहरणार्थ–घड़ा शब्द।

(२) स्थापना निक्षेप–पदार्थ का स्वयं का आकार।
उदाहरणार्थ-घड़े का आकार।

(३) द्रव्य निक्षेप–पदार्थ का मूल कारण।
उदाहरणार्थ-घड़े में मूल कारण मिट्टी।

(४) भाव निक्षेप-कार्ययुक्त पदार्थ।

उदाहरणार्थ—जल से भरा हुआ घड़ा

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के ये चार स्वरूप होते हैं और इन चारों स्व पों के द्वारा विश्व के प्राणी उस पदार्थ को अपने उपयोग में लेकर इष्ट कार्य की सिद्धि करते हैं।

विश्व के सामान्य व्यावहारिक जीवन में जिस प्रकार पदार्थ एवं उसके नाम आदि स्वरूप को अभेद के रूप में मानकर उसके द्वारा व्यावहारिक कार्य पूर्ण किये जाते हैं, उसी प्रकार से आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश एवं प्रगति करने के लिए आध्यात्मिक तत्त्व एवं उसके नाम आदि स्वरूप को अभेद के रूप में मानकर उसकी शास्त्रोक्त विधि के अनुसार यदि उपासना की जाये तो आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर चलने और अग्रसर होने में साधक को अत्यन्त सरलता होती है।

भक्तियोग एक ऐसा योग है जिसमें परमात्मा विषयक सच्ची खोज में भक्तात्मा एकाकार हो जाता है।

भक्ति को सघन करने के लिए परमानन्दमय परमात्मा को अपना आत्मेश्वर बनाकर उनके साथ गुप्त संगोष्ठी करने में, तन्मयता अनुभव करने में, तदाकार वृत्ति में चित्त को ढ़ालने में, उनके नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों निक्षेप भी अनन्य उपकारी उनके चौथे भाव-निक्षेप के समान ही आदरणीय एवं आराध्य हैं।

इन तीनों निक्षेपों को हृदय में स्थान देने से, उन्हें हृदय में स्थायी करने से समस्त प्रकार के कल्याण सिद्ध होते हैं, भाव निक्षेप स्वरूप श्री अरिहन्त परमात्मा का यथार्थ आदर होता है, और हृदय के भावोल्लास में वृद्धि होती है।

श्री अरिहन्त परमात्मा विषयक भाव, भव-वृद्धि कारक अशुभ भावों एवं अशुभ कर्मों का क्षय करते हैं।

अतः स्व-पर के हितैषी को श्री अरिहन्त परमात्मा के समस्त निक्षेपों की उपासना अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होती है।

परोपकार-व्यसनी श्री अरिहन्त परमात्मा के किसी भी निक्षेपा को आत्मसात् करना उनके असीम उपकारों को यथार्थ नमस्कार है। ऐसी एकान्त लाभदायक भक्ति में अपनी समस्त शक्ति लगाने में ही मानव-भव की सार्थकता है।

श्री अरिहन्त परमात्मा के चार प्रकार

(१) नाम जिन, (२) स्थापना जिन (३) द्रव्य जिन और (४) भाव जिन ये श्री अरिहन्त परमात्मा के चार प्रकार हैं।

(१) नाम जिन :—श्री जिनेश्वर परमात्मा का नाम। जिस प्रकार श्री वर्द्धमान स्वामी आदि विशेष नाम और अर्हं, अरिहंत आदि सामान्य नाम।

(२) स्थापना जिन:—श्री अरिहन्त परमात्मा की मूर्ति, चित्र तथा बुद्धिस्थ आकार तथा 'अरिहंत' ऐसे अक्षर।

(३) द्रव्य जिन :—श्री अरिहन्त परमात्मा के जीव; जिस प्रकार श्रेणिक महाराजा अथवा श्री अरिहन्त परमात्मा बनकर सिद्धि प्राप्त सिद्ध भगवंत।

(४) भाव जिन :—भाव जिन दो प्रकार से हैं (१) आगम से भाव जिन, (२) नो आगभ से भाव जिन।

(१) आगम से भाव जिन :—समवसरण स्थित श्री अरिहंत परमात्मा के ध्यान में उपयुक्त साधक।

(२) नो आगम से भाव जिन :—समवसरण स्थित श्री अरिहन्त परमात्मा।*

---

* चउहजिणा नाम-ठवण-दव्वभावजिणभेएणं ॥५०॥
नामजिणा जिण नामा, ठवण जिणा पुण जिणिंदपडिमाओ।
दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था ॥ ५१ ॥
—चैत्यवन्दन भाष्य : गाथा ५१

इस प्रकार ज्ञान एवं आनन्द से परिपूर्ण, अनन्त गुणों के भण्डार परमात्मा अपने चारों स्वरूपों के द्वारा भव्य जीवों के लिये नित्य परम आलम्बन बनते हैं।

निराकार परमात्म-दर्शन का अधिकारी कौन ?

उपर्युक्त चार प्रकार से जो साधक साकार परमात्मा का दर्शन-मिलन प्राप्त कर सकता है, वही निरंजन-निराकार परमात्मा के दर्शन का अधिकारी हो सकता है।

प्रत्येक साधक के लिये साधना में यही क्रम उपयोगी होता है—यह बताने के लिये श्री नमस्कार महामंत्र में भी सर्वप्रथम साकार स्वरूप श्री अरिहन्त परमात्मा का निर्देश है और तत्पश्चात् निरंजन-निराकार श्री सिद्ध परमात्मा का निर्देश किया गया है।

परमात्मा का तात्त्विक दर्शन एवं निश्चय रत्नत्रयी

वर्तमान काल में अपने भरतक्षेत्र में भाव-तीर्थंकर परमात्मा विद्यमान नहीं होते हुए भी उनके नाम आदि द्वारा उनके भाव-स्वरूप को अमुक अंश में अनुभव किया जा सकता है और यही प्रभु का 'तात्त्विक दर्शन' एवं मिलन है।

शास्त्रों में प्रभु के तात्त्विक दर्शन को 'सम्यग् दर्शन' एवं प्रभु के तात्त्विक मिलन को 'सम्यक् चारित्र' कहते हैं और उन अद्भुत गुणों को प्राप्त करने की कला को 'सम्यग् ज्ञान' कहते हैं।

तात्त्विक रीति से (निश्चय नय से) परमात्म-स्वरूप का दर्शन आत्म-स्वरूप के दर्शन से ही होता है और परमात्म-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान आत्म-स्वरूप के यथार्थ ज्ञान के द्वारा ही होता है, तथा परमात्म-स्वरूप में रमणतारुप परमात्म-मिलन भी आत्म-स्वरूप में रमण करने से ही होता है। इस प्रकार आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप का अभेद है।

अतः आत्म-तत्त्व में श्रद्धा एवं उसका दर्शन ही सम्यग् दर्शन है, आत्म-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है और उस स्वरूप में रमण करना ही सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार इसे निश्चय रत्नत्रयी कहते हैं।

तो सोचना यह है कि यह आत्मा कैसी महिमामयी है, अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न है।

आत्मा ही परम आराध्य है। इस त्रिकालाबाध्य सत्य की उद्घोषणा करने वाले अन्य कोई नहीं हैं, परन्तु श्री अरिहन्त परमात्मा ही हैं। यह तथ्य जानने के पश्चात् हमारे रोम-रोम में आत्मा की आराधना करने की भावना के भानु का प्रकाश व्याप्त हो जाना चाहिये, प्रसारित हो जाना चाहिये।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज योग-शास्त्र के चतुर्थ प्रकाश में फरमाते हैं

आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यागाद्य आत्मनि।
तदेव तस्य चारित्रं, तज्ज्ञानं तच्च दर्शनम् ॥

अर्थः—जो व्यक्ति मोह त्याग कर आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा में जानता है, वही उसका चारित्र है, वही ज्ञान है और वही दर्शन है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा में देखना ही तत्त्व दृष्टि है। आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा में जानना तत्त्व-बोध है और आत्मा में आत्मा के रूप में जीना तत्त्व-जीवन है, तत्त्वजीवीपन है।

मोह का त्याग करके इन तीन गुण-रत्नों को प्राप्त किया जा सकता है।

नाम आदि रूप से परमात्मा की उपस्थिति

श्री गणधर भगवंतों ने 'जिनागमों' में परमात्म-दर्शन की अद्भुत कला का विस्तृत वर्णन किया है। उसका तनिक रहस्य शास्त्र-मर्मज्ञ एवं तदनुरूप जीवनयापन करने वाले अनुभवी योगियों के प्रभावशाली वचनों के माध्यम से हम सोचें:—

"नामे तो जगमां रह्यो, स्थापना पण तिमही,
द्रव्ये भव मांहे वसे, पण न कले किमही।
भावपणे सवि एकरूप—त्रिभुवन में त्रिकाले,
ते पारंगत ने वंदिये, त्रिहुँ योगे स्वभाले।

इन दो छंदों के द्वारा पू. ज्ञानविमलसूरि महाराज ने नाम आदि रूप से परमात्मा की सर्वत्र उपस्थिति बतलाई है जो इस प्रकार है—

नाम रूप में एवं स्थापना रूप में परमात्मा विश्व में विद्यमान हैं। द्रव्य रूप में भी वे विश्व में हैं परन्तु पहचाने नहीं जाते, भाव रूप में तो परमात्मा तीनों लोकों में सदा (भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में) विद्यमान है, क्योंकि समस्त जीवों में चैतन्य तत्त्व (समान भाव से) विद्यमान है, उसके कारण सब की एकात्मता वाले पारंगत-संसार का भेद पाये हुए परमात्मा को त्रिकरण योग की शुद्धि से शीश नँवा कर वन्दन-नमन करें तो उनके दर्शन और मिलन से क्रमश: हम उनके तुल्य बन सकें।

साधक के हृदय में कभी-कभी ऐसे विचार भी आते हैं कि यदि साक्षात् परमात्मा से मेरा साक्षात्कार हुआ होता तो संयम की उत्कृष्ट साधना हो सकती कि जिससे मैं शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर पाता; परन्तु इस काल में, इस क्षेत्र में किसी तीर्थंकर परमात्मा से साक्षात्कार होना सम्भव ही नहीं है, अत: हमें तो केवल उसकी भावना ही बनानी है।

परन्तु पुरुषार्थ विहीन निरी भावना से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। उसके लिये भावना के अनुरूप सक्रिय प्रयत्न करने ही पड़ते हैं। सच्ची भावना एवं लगन से यदि हम पुरुषार्थ करें तो आज भी चारों प्रकार से परमात्मा का सान्निध्य निस्सन्देह प्राप्त हो सकता है।

क्या आराधक आत्मा के लिये परमात्मा का नाम साक्षात् परमात्मा की अपेक्षा कम आलम्बन रूप है ? अथवा उन परमात्मा की प्रतिमा कम आलम्बन भूत हैं ? कि जिनके दर्शन मात्र से मन की मलिनता क्षीण हो जाती

है, चित्त में प्रसन्नता की सौरभ छा जाती है, पाप का नाश और पुण्य का संचय होता है।

अतः परमात्मा के नाम का स्मरण (जाप) और परमात्मा की प्रतिमा का आलम्बन भी साक्षात् परमात्मा के आलम्बन जितना ही फलदायी है, इस शास्त्र-वचन में पूर्ण श्रद्धा रख कर हमें उनकी अनन्य भाव से उपासना करनी चाहिये ।

शास्त्रों में श्री जिन प्रतिमा को जिन समान कही गई है और उनके पुण्य-नाम का मंत्र के रूप में परिचय कराया गया है। यह तथ्य एक और एक दो के जितना ही सही है ।

इस तथ्य के समर्थन में कहा भी है कि—

दर्शनात् दूरित ध्वंसी, वंदनात् वाञ्छितप्रदः।
पूजनात् पूरकः श्रीणां–जिनः साक्षात् सुरद्रुम :॥

अर्थ :—दर्शन मात्र से दूरित (पाप) का नाश करने वाले, वन्दन से वांछित देने वाले, पूजन से लक्ष्मी के पूरक श्री जिनेश्वर भगवान साक्षात् कल्प-वृक्ष के समान हैं ।

तो साक्षात् कल्प-वृक्ष प्राप्त होने से गृहस्थ को जितना हर्ष होता है, उतना हर्ष परम कोटि के कल्पवृक्ष तुल्य श्री जिनेश्वर देव के प्रतिमा के दर्शन से होने लगे तो समझना चाहिये कि हमें प्रतिमा में स्वयं श्री जिनेश्वर देव देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ।

श्री जिन-प्रतिमा में श्री जिनेश्वर देव के दर्शन करने वाले व्यक्ति को उसके पुण्य के प्रभाव से उपर्युक्त श्लोक में वर्णित अनुभव हुए बिना नहीं रहता ।

अपने उपकारी पुरुष का चित्र देख कर भी मनुष्य हर्ष विभोर हो जाता है, तो फिर समस्त जीवों के परम उपकारी श्री जिनेश्वर देव की मूर्त्ति के दर्शन करके हमारे साढ़े तीन करोड़ रोम-कूपों में हर्ष के दीपक प्रज्वलित होने ही चाहिये।

श्री जिन नाम भी श्री जिन-प्रतिमा जितना ही मंगलप्रद, वांछितप्रद और सौभाग्यप्रद है ही।

प्रभु का नाम प्रभु की मंत्रात्मक देह है, उस सत्य की अनुभूति सविधि सम्मान सहित नाम-स्मरण से होती है। उसका लक्षण यह है कि समस्त देह में हर्ष की लहरें उठती हैं, नेत्र हर्षाश्रु से सिक्त बनते हैं, चित्त में अपूर्व प्रसन्नता होती है।

जो व्यक्ति रात-दिन के श्रेष्ठ क्षणों में श्री जिनेश्वर देव के असंख्य उपकारों का चिन्तन-मनन करते हैं उन्हें श्री जिनेश्वर देव के चारों स्वरूप समान उपकारी होने का शास्त्रोक्त सत्य सर्वथा सही प्रतीत होता ही है।

अरिहन्त परमात्मा का नाम एवं मूर्त्ति तीनों लोकों में बसे हुए जीवों पर उपकार करते हैं। वह तथ्य इस बात से सिद्ध होता है।

श्री अरिहन्त परमात्मा द्रव्य से भी इस विश्व में सर्वत्र विद्यमान रहते हैं, परन्तु विशिष्ट कोटि के ज्ञानी भगवंतों के बिना उन्हें पहचाना नहीं जा सकता।

भाव से तो तीन लोकों में, तीनों काल में परमात्मा सर्वत्र विद्यमान हैं ही।

हाँ, उस भावना में हमारी भावना सम्मिलित होनी चाहिये, तो इस काल में भी परमात्मा का उत्कृष्ट आलम्बन मिल सकता है।

उन्हें उत्कृष्ट भाव से स्मरण करने की सरल रीति उनकी उपकारक आज्ञा का त्रिविध एवं त्रिकरण योग से पालन करना है। उस प्रकार करने से जीव गिनती के थोड़े भवों में ही दुःख रूप, दुःख फलक एवं दुःख परंपरक संसार का उच्छेद करके शिव-पद प्राप्त कर सकता है।

श्री अरिहन्त परमात्मा के नाम आदि चारों निक्षेपा समान उपकारी हैं, अपने अनन्य शरणागत को भव-सागर में से सकुशल मोक्ष में ले जाने की क्षमता वाले हैं। उस सत्य में अपनी प्रज्ञा को स्थिर करके समस्त मुमुक्षु आत्मा आज वर्तमान समय में भी इस जिन-मय जीवन का अमुक अंशों में अद्भुत रोमांचकारी अनुभव कर सकती हैं, यह निस्संदेह बात है।

प्रीति-योग

□

प्रभु प्रेम का प्रभाव

□

श्री जिनेश्वर देव के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपा के स्वरूप द्वारा जिस प्रकार उनके विशद स्वरूप एवं विश्वोपकारिता की हमें प्रतीति हुई, उसी प्रकार से उनके प्रति जो निष्काम प्रीति, भक्ति भक्त-हृदय में उत्पन्न होती है, उसे जैन दर्शन के शास्त्रों एवं शास्त्रवेत्ताओं ने किस प्रकार चित्रित किया है, किस प्रकार उसका विकास किया है, उस सम्बन्ध में सूरि पुरन्दर श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज द्वारा प्रदर्शित प्रीतियोग, भक्ति-योग, वचन-योग और असंग-योग के आधार पर विचार करके जैन दर्शन के भक्ति योग की व्यापकता एवं विशदता का तनिक विशेष परिचय प्राप्त करें और तदनुसार जीवन में उक्त भक्ति योग को जीवित करके हमारे अन्तर में स्थित अनन्त आनन्द एवं ज्ञान के कोष को प्राप्त करने के लिये सुभागी बनें।

सामान्यतः परमात्म-दर्शन के लिये तरसते साधक के हृदय में परमात्म-दर्शन की प्राप्ति के मौलिक उपाय ज्ञात करने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और उन उपायों के अनुसार वह साधना की दिशा में प्रयाण करता है।

इस प्रक्रिया को चार विभागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) प्रीति-अनुष्ठान (प्रीति-योग), (२) भक्ति-अनुष्ठान (भक्ति योग), (३) वचन-अनुष्ठान (शास्त्र योग), और (४) असंग अनुष्ठान (सामर्थ्य योग)

प्रीति-योग अर्थात् प्रेम

विश्व का महानतम आकर्षण प्रेम है। मानव प्रेम करता ही रहा है, फिर चाहे उसके प्रेम-पात्र कोई व्यक्ति हों अथवा कोई भौतिक पदार्थ हों, परन्तु कोई होता अवश्य है।

वह अपने प्रेम-पात्र को प्राप्त करने के लिये, उसे रिझाने के लिये क्या-क्या नहीं करता ? सब कुछ करता है ।

उसे प्राप्त करने में कदाचित् आपत्तियों के पहाड़ टूट पड़ें, चाहे विपत्तियों के श्याम मेघ बरस पड़ें और उसका प्रेम-पात्र बनने में कदाचित् अनेक व्यक्तियों की शत्रुता मोल लेनी पड़े, तो भी मानव सब कुछ सहन करने के लिये तत्पर रहता है ।

प्रेम एवं जीव-सृष्टि

केवल मानव ही नहीं, अन्य जीव सृष्टि में भी प्रेम में पागल होकर जीवन को दाव पर लगाने वाले जीवों के असंख्य उदाहरण देखने को मिलते हैं ।

पतंगा दीपक की लो पर पागल होकर अपने प्राणों की आहुति तक दे देता है ।

चकोर पक्षी चाँद के लिये पागल होकर केवल उसकी प्रतीक्षा में ही अपना जीवन व्यतीत करता है ।

मृग एवं भुजंग संगीत के स्वरों से आकर्षित होकर शिकारी एवं मदारी के बन्धनों में फँस जाते हैं ।

भ्रमर कमल-दल में बन्द होने पर भी उसका स्नेह छोड़ कर बाहर निकलने के लिये उत्सुक नहीं होता ।

प्रेम के लिये द्रव्य, क्षेत्र, काल अथवा भाव अवरोधक नहीं होते । उसका प्रवाह तो निज प्रेम-पात्र के पीछे अबाध गति से प्रवाहित होता ही रहता है ।

सृष्टि में विविध रूप से प्रेम का दर्शन होता है ।

कहीं पति-पत्नी का प्रेम दृष्टिगोचर होता है, तो कहीं पिता-पुत्र के प्रेम का दर्शन होता है; कहीं सन्तान के प्रति माता का प्रेम अवलोकन करने

के लिये मिलता है, तो कहीं भाई-भगिनी का पवित्र प्रेम भी दृष्टिगोचर होता है। कहीं व्यक्ति का किसी पदार्थ के प्रति संकुचित प्रेम देखने को मिलता है तो कहीं व्यक्ति का विश्व के प्रति विकसित प्रेम देखने का अवसर मिलता है और कहीं विश्व वात्सल्यमय परमात्मा के प्रति प्रकृष्ट प्रेम प्रवाहित करते संत-महन्तों के भी दर्शन होते हैं।

इस प्रेम का साम्राज्य विश्व पर विविध रूप में फैला हुआ है। फिर भी भौतिक सुखों की कामना से किया गया प्रेम अन्त में तो छलिया ही सिद्ध होता है। उसका अन्तिम परिणाम आह एवं आँसू ही होते हैं।

पंचेन्द्रिय-विषयक प्रेम भी अन्त में प्राण-घातक सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रेम का पात्र-पदार्थ एक मात्र आत्मा है, उसके गुण हैं। उन गुणों को धारण करने वाले महा संत हैं और वे महा संत भी जिन्हें नित्य भाव सहित स्मरण करते हैं वे श्री अरिहन्त परमात्मा हैं; जिनका शासन सर्व-व्यापी है, अप्रतिहत है। जिनकी कृपा का स्रोत समस्त सृष्टि पर अबाधगति से सतत प्रवाहित होता ही रहता है, जिनका विमल वात्सल्य समस्त प्राणियों के लिये सुखदायक सिद्ध होता है।

जिनके दर्शन मात्र से तन का ताप, मन का सन्ताप और हृदय की तड़प शान्त हो जाती है।

जिनका सान्निध्य हमें अशुभ भावों से निवृत्त करके शुभ भावों में प्रवृत्त करता है।

जिनकी प्रशान्त मुद्रा राग की ज्वाला बुझा कर त्याग के राग को पुष्ट करती है और पाप-पुन्जों का विलय करके पुण्य-पुन्जों का संचय करती है।

जिनके दर्शन से भव-निर्वेद एवं ग्रंथि-भेद भी सुलभ हो जाते हैं। भव-शृंखला से मुक्ति और निज-शुद्ध आत्म-स्वभाव की प्राप्ति में भी अनन्य कारणभूत हैं।

परमात्मा के प्रेम में ही एक ऐसी शक्ति है कि जो उनके प्रेमी को चित्त के चंचल परिणामों से मुक्त करके स्थिर परिणामी बना सकती है।

अतः निर्विषयी, निष्कषायी अर्थात् समस्त गुणों से सम्पन्न श्री अरिहन्त परमात्मा के साथ प्रेम करने से विषय कषाय युक्त प्रेम (राग दशा) का विशुद्ध प्रेम में रूपान्तर हो जाता है।

परमात्म-प्रेम से उत्पन्न होने वाली शक्तियाँ

परमात्मा के प्रति पूर्ण प्रेम से साधना की शक्ति एवं वैराग्य की ज्योति प्रकट होने से जीवन आनन्दमय हो जाता है।

सांसारिक सुख प्रदान कराने वाली वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये मनुष्य रात-दिन जो प्रयास करते हैं उनके दसवें भाग के प्रयास भी यदि वे परमात्मा का प्रेम प्राप्त करने में करें तो भी उनका जीवन अपार आनन्द से परिपूर्ण हो जाये।

परमात्मा की अखण्ड प्रीति का विशुद्ध प्रवाह सर्वत्र निरन्तर वह रहा है, परन्तु उसके योग्य बनने के लिये स्थूल, लौकिक, स्वार्थपूर्ण भावों के साथ प्रीत-सम्बन्ध का समूल त्याग करना पड़ता है और उसमें भी सर्वप्रथम अपने उत्तमांग (मस्तक) को परमात्मा के चरण-कमल में समर्पित करने से ही उत्तम परमात्मा की प्रीति अंगभूत होती है।

एक परमात्मा के अतिरिक्त मन को शीतलता प्रदान करने वाला अन्य कोई स्थान नहीं है, यह तथ्य स्वीकार करके परमात्मा की प्रीति में रंग जाने में ही बुद्धिमानी है, जीवन की सार्थकता और सफलता है।

जल-बिन्दु सागर में मिल जाने पर वह अक्षय अभंग हो जाता है, फिर उसे सूखने अथवा शोषने का भय नहीं रहता।

अल्प को परम में समर्पित करने की इस कला को प्रीति-अनुष्ठान भी कहा जा सकता है।

परमात्म-प्रीति-पूर्वक जीवन में एकरूप बने हुए महा संत तो सर्वदा एक ही धुन में लीन रहते हैं कि—'अवर न धंधो आदरूँ, निश-दिन तोरा गुण गाऊँ रे····· '

परमात्मा ही अपनी मति बनते हैं, गति बनते हैं, फिर विचार, वाणी एवं व्यवहार में परमात्मा की प्रीति छलकती है।

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे ''

पद गाने वाले आनंदघन का श्रेष्ठ अभिवादन—सम्मान परमात्मा की प्रीति में पूर्णतः एकरूप होने में है।

परम चैतन्यमय परमात्मा की प्रीति के परम प्रभाव से प्रत्येक प्राण में अपूर्व पवित्रता प्रकट होती है। पाँचों इन्द्रियाँ आत्मा की ओर उन्मुख होती हैं। हृदय में शब्दातीत स्नेह, दया प्रकट होती है। सातों धातुओं में नवीन शुचिता का संचरण होता है। प्रत्येक कोष में अपूर्व धर्म-धारणा की क्षमता प्रकट होती है अर्थात् प्रेमी की समग्रता परम कल्याणकारी परमात्म-प्रीति के द्वारा रंग जाती है। उठते, बैठते, चलते, खाते, पीते अथवा कुछ भी कार्य करते उसका उपयोग (ध्यान) परमात्मा में रहता है।

परमात्मा की प्रीति का अमृत-पान करने वाले व्यक्ति को विषय एवं कषाय विष तुल्य लगते हैं अर्थात् विषय-कषाय का तनिक भी सम्मान करने में उसे परमात्मा का भयानक अपमान प्रतीत होता है।

परमात्मा की प्रीति का आस्वादन ही इस प्रकार का है कि एक बार उसका अनुभव करने वाले धन्यात्मा को स्वार्थ तुच्छ प्रतीत होता है। उसका सम्पूर्ण जीवन परमात्ममय बन जाता है। उसका हृदय संसार की किसी भी वस्तु में नहीं चिपकता, वह तो केवल परमात्म-चरण में ही लीन रहता है।

भक्त की भाव-सिक्त प्रार्थना

इस प्रकार का परमात्म-प्रेमी अनन्त गुण-निधान परमात्मा के गुणों को अत्यन्त उमंग से स्मरण कर करके, स्व-दुर्गुणों की निन्दा करके परमात्मा के समक्ष दीनतापूर्वक याचना करता है कि—

"हे परमात्मा ! आप राग रहित हैं और मैं तो राग से ओत-प्रोत हूँ।

आप द्वेषरहित हैं और मैं तो द्वेष के दावानल में झुलस रहा हूँ।

आप मोह रहित हैं और मैं तो मोह के महा पाश में जकड़ा हुआ हूँ।

आप आशा रहित हैं और मैं आशा के मधुर स्वप्नों में हिचकोले खा रहा हूँ।

आप इच्छा रहित हैं और मैं तो हजारों इच्छाओं से घिरा हुआ हूँ।

आप निःसंग हैं और मैं तो संग में ही जीवन के रंगों का आनन्द लेने वाला हूँ।

आप पूर्ण ज्ञानी हैं और मैं तो अज्ञान में ही भटकने वाला हूँ।

आप प्रशम रस के पयोधि हैं और मैं तो क्रोध-कषाय का उदधि (सागर) हूँ।

आप निर्विषयी हैं और मैं तो विषयासक्त, विषय-ग्रस्त हूँ।

आप कर्म-कलंक से विमुक्त हैं और मैं कर्म-कलंक युक्त हूँ।

आप अविनाशी-आत्म-सुख के स्वामी हैं और मैं तो नश्वर पौद्गलिक सुख का कामी हूँ।

आप शुद्ध, बुद्ध, पूर्ण हैं और मैं तो अशुद्ध, अबुद्ध, अपूर्ण हूँ।

आप अयोगी, अशरीरी, अलेशी हैं और मैं तो संयोगी, सशरीरी, और सलेशी हूँ।

आप निर्मम, निर्भय, निस्तरंग हैं और मैं तो ममत्व, भय एवं तरंग से युक्त हूँ।

आप अजर और अमर हैं और मैं तो जरा एवं मृत्यु के भय से घिरा हुआ हूँ।

आप अनन्तनान्त गुणों से पूर्ण है और मैं तो अनन्तानन्त अवगुणों से पूर्ण हूँ।

हे परमात्मा! इस प्रकार आपके और मेरे मध्य विराट अन्तर है, जितना अन्तर मेरु पर्वत और सरसों के दाने के मध्य है, धरती और नभ के मध्य है, अमृत और विष के मध्य है; उनसे भी अधिक अन्तर हे प्रभो! आपके और मेरे मध्य है।

तो हे प्रभु! आपके साथ मेरा मेल कैसे बैठेगा? परस्पर की प्रीति किस प्रकार अभंग होगी? अन्योन्य की समीपता किस प्रकार स्थिर रहेगी?

हे प्रभो! क्या मैं आपसे प्रेम करने के लिये योग्य नहीं हूँ? क्या आपकी प्रीति प्राप्त करने की मुझ में पात्रता नहीं है?

नहीं नहीं प्रभो! यह अन्तर पुकार-पुकार कर कह रहा है कि केवल आपके प्रेम के प्रभाव से, आपकी अदृश्य एवं अकल्पनीय तारक शक्ति के बल से मैं इस विराट् अन्तर को अवश्य भेदकर आपके बिल्कुल समीप पहुँच जाऊँगा। यद्यपि यह कार्य सुसाध्य तो नहीं है, परन्तु असाध्य भी नहीं है, फिर भी कष्ट-साध्य (दुःसाध्य) अवश्य है।

हे प्रभो! इस दुःसाध्य कार्य को साध्य करने के लिये मैं भगीरथ पुरुषार्थ करूँगा। मैं अपनी समग्रता को आपके पूर्ण प्रेम में ढ़ाल कर इस विराट भेद को खोल कर ही दम लूंगा। चाहे यह कार्य करने में कदाचित् अनेक दिन, महीने, वर्ष अथवा कदाचित् अनेक जन्म व्यतीत करने पड़ें, परन्तु आपको प्राप्त करने का अपना श्रेष्ठ पुरुषार्थ अबाध गति से मैं प्रारम्भ ही रखूँगा। आप नित्य मुझ पर कृपा की वृष्टि करते रहें, नित्य मेरी राह में ज्योति बिखेरते रहें। इस भीषण भव-बन में जब तक मेरा परिभ्रमण चलता रहे तब तक हे प्रभो! आप अपना पवित्र सहयोग मुझे प्रदान करके अशुभ वासनाओं एवं वृत्तियों से मेरी रक्षा करते रहें।

हे प्रभो ! संवेग, निर्वेद भाव की दिव्य ज्योति मेरे मन-मन्दिर में नित्य जगमगाती रखें और प्रत्येक भव में मुझे आपके परम तारणहार शासन तथा उसके स्वरूप को समझाने वाले सुगुरु का सुयोग कराकर मेरी साधना में प्राणों का संचार करें और आप मुझे ऐसी शक्ति प्रदान करें कि जिससे मैं मुक्ति के अधिकाधिक समीप पहुँचता जाऊँ और अन्त में मुक्ति प्राप्त करके आपके साथ शाश्वत मिलन सिद्ध कर लूं, आपके साथ एकरूप बन जाऊँ।

परम दयालु परमात्मा को इस प्रकार बार-बार भाव-सिक्त निवेदन करता हुआ साधक अपनी इच्छा-पूर्ति में विलम्ब होता देखते हुए भी तनिक भी निराश हुए बिना अपने निश्चय पर अटल रह कर, अखण्ड भक्ति, श्रद्धा एवं तदनुरूप पुरुषार्थ करता हुआ वह स्वरूप-साधना में प्रगति करता ही रहता है। वह आत्मा के पूर्ण-विशुद्ध स्वरूप की साधना में मग्न रहता है।

परम वात्सल्यवान परमात्मा के प्रति इतनी अनुपम प्रीति साधक को साधना करने की शक्ति प्रदान कर उसे सिद्धि के अधिक समीप ले जाती है।

यह प्रभु-प्रेम ही समस्त साधना का उद्भव-स्थल है, जिसमें से समस्त प्रकार की उत्तम साधनाओं का प्रादुर्भाव होता है। ज्ञान से तो परमात्मा को पहचाना जा सकता है, परन्तु प्राप्त तो उसे प्रीति से ही किया जा सकता है।

भक्ति-योग

□

भक्ति की भव्य शक्ति

प्रीतियोग की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए साधक में भक्ति-योग विकसित होता है।

भक्ति की शक्ति अकल, अटल एवं अपार है। उसका प्रभाव और प्रताप अद्भुत है।

समस्त प्रकार की श्रेष्ठ साधना का विकास भी भक्ति की भव्य शक्ति के द्वारा ही होता है। भगवद्-भावना का अनमोल बीज भी भक्ति ही है। भक्ति की शक्ति के द्वारा ही ऐसी युक्ति प्राप्त होती है जो मंगलमयी मुक्ति के साथ हमारा चिरन्तन मिलन करा देती है।

भक्ति भव का भ्रम नष्ट करके स्वभाव का साहजिक आनन्द प्रदान करती है।

भक्ति अशुभ में से शुभ में और शुभ में से शुद्धता में ले जाती है।

भक्ति बाह्य दशा में से आभ्यंतर दशा में ले जाकर परमात्म-दशा के सम्मुख ले जाती है।

भक्ति भक्त का भगवान से साक्षात्कार कराने वाला सुहावना सेतु (पुल) है।

जिस प्रकार बालक के लिये विश्वासपात्र केवल माता ही होती है, उसके अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति पर उसे अपनी माता के समान विश्वास नहीं होता; उस प्रकार से भक्त के लिये विश्वासपात्र केवल भगवान

ही होते हैं; परन्तु जितना विश्वास उसे भगवान पर होता है उतना अन्य किसी पर नहीं होता।

परमात्मा ही मेरी समग्र साधना एवं आराधना के केन्द्र हैं। वे समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले, आपत्तियों को नष्ट करने वाले और समस्त सम्पत्ति के समर्थक हैं—ऐसी दृढ़ एवं अटूट श्रद्धा भक्त के हृदय में होती है।

श्रद्धा-विहीन भक्ति कदापि फल-दायिनी नहीं हो सकती।

अकल्पनीय शक्ति-सम्पन्न श्री अरिहन्त परमात्मा की परम तारक शक्ति में तनिक भी शंका रखना महान् दोष है, मिथ्यामति की विकृतता है।

तात्पर्य यह है कि भक्त को भगवान के प्रति पूर्ण श्रद्धा ही होनी चाहिये, होती है।

ऐसी श्रद्धापूर्ण भक्ति जिस व्यक्ति के अन्तरोद्यान में प्रकट होती है, प्रसारित होती है, उसका समग्र जीवन सद्भाव की अलौकिक सौरभ से महक उठता है। उसके समस्त भाव सत् में ही केन्द्रीयभूत होते हैं। भाव प्रदान करने की शक्ति से शून्य ऐसे असत् पदार्थों के प्रति वह तनिक भी ममत्व नहीं रखता।

इस प्रकार का भक्त भक्ति में तन्मय होकर स्व-जीवन को धन्य-धन्य बना लेता है और वह भक्ति की साधना में अहर्निश प्रगति करता रहता है।

प्रभु मिलन की प्यास

भक्त को भगवान के प्रति प्रीति और भक्ति है, परन्तु प्रीति-भक्ति के भाजन स्वरूप परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं होने से कभी-कभी वह व्याकुलता अनुभव करके प्रभु को प्रश्न पूछ बैठता है कि—हे प्रभो! आपका और मेरा मिलन (साक्षात्कार) होगा या नहीं? आपकी और मेरी प्रीति अटूट रहेगी या नहीं? क्योंकि आपके और मेरे मध्य सात राजलोक का दीर्घ अन्तर है;

अर्थात् आप लोकाग्र में बिराजमान हैं जबकि मैं मध्य-लोकवर्ती मनुष्य लोक में हूँ।

हे नाथ! अनेक बार मेरी ऐसी इच्छा हो जाती है कि मैं आपको पत्र लिख कर अपनी प्रीति सुदृढ़ करूँ, भक्ति को वेगवती बनाऊँ, परन्तु खेद है! मेरा पत्र आप तक पहुँचाने वाला और वहाँ से आपका शुभ सन्देशमय प्रत्युत्तर लेकर लौट आने वाला कोई सन्देश-वाहक-पथिक मुझे मिलता नहीं। जो व्यक्ति आपके पास पहुँचता है वह मानों एक समय का भी विरह नहीं चाहता हो—नहीं सह सकता हो, उस तरह आपकी ज्योति में मिल कर आपमय बन जाता है और ऐसा कोई वाहन भी नहीं है कि जिस पर सवार होकर मैं आपको मिलने के लिये आ सकूँ तथा उन नील-गगन में उड़ने वाले पक्षियों के समान पंख भी मेरे पास नहीं हैं कि उड़ कर सुदूर स्थित आपके मंगलकारी दर्शन प्राप्त करने के लिये मैं आ सकूँ। जिस प्रकार मेरे तन में (पंख) पाँखें नहीं हैं उस प्रकार मेरे मन में आँखें भी नहीं हैं कि जिनके द्वारा मैं आपके दर्शन कर सकूँ और हे सामर्थ्य-निधान! मुझ में ऐसी कोई विशिष्ट शक्ति भी नहीं है कि जिसकी सहायता से मैं आपके समीप पहुँच जाऊँ।

भक्त की व्यथा

प्रभु-मिलन-तृषित भक्त की व्यथा भी विचित्र प्रकार की होती है। वह परमात्मा को मानो कहता है कि आपके दर्शन की तमन्ना—लगन ज्यों-ज्यों तीव्र होती जाती है, आपके मिलन की प्यास ज्यों-ज्यों उत्कट होती जाती है, त्यों त्यों हे नाथ! अनेक अन्तराय मुझे चारों ओर से घेर लेते हैं जो मेरी आशा के मधुर स्वप्न को धराशायी कर डालते हैं।

सचमुच, प्रभो! आज मुझे उस सत्य का भान होता है कि जो दूर-सुदूर शाश्वत धाम में निवास करते हों, जिन्हें मिलना अत्यन्त दूभर हो और जिन्हें कोई सन्देश भी नहीं भेजा जा सकता हो, ऐसे व्यक्ति से प्रेम करना दुःखदायी है। अतः कायर मनुष्य आपको प्राप्त करने के मार्ग में पीछे हट जाते हैं।

हे निरंजन, निराकार परमात्मा! आप तो बहुत दूर हैं, परन्तु साकार श्री अरिहन्त परमात्मा तो इस धरती तल पर विचर रहे हैं और अपने

पवित्र चरण-कमलों से पृथ्वी को पावन कर रहे हैं, असंख्य देव उनकी सेवा कर रहे हैं। वे परमात्मा भी यदि तनिक कृपा करके किसी देव को आदेश दें तो उस देवी शक्ति के बल से भी मैं उन अपार करुणा-निधान परमात्मा के दर्शन प्राप्त कर सकूं ....परन्तु श्री अरिहन्त परमात्मा भी इतनी कृपा नहीं करते।

सचमुच, वीतरागी प्रभु के प्रति किया गया राग भी एक पक्षीय होता है, जिससे रागी भक्त का नित्य शोषण होता है, उसे व्याकुल होना पड़ता है।

चातक मेघ-वृष्टि की आतुरता से प्रतीक्षा करता है, जबकि मेघ को उसकी तनिक भी परवाह नहीं होती; इसलिये वह उसे तरसा-तरसा कर बरसता है और चकोर चन्द्र-दर्शन के लिये लालायित रहता है परन्तु चन्द्रमा उसकी प्रीति की उपेक्षा करके अमावस के गहन अन्धकार में विलीन हो जाता है।

इसी प्रकार से प्रभो ! आप भी भक्त की प्रीति और भक्ति की उपेक्षा करके भक्त से अलग ही रहते हैं। आपको कदाचित् यह भय होगा कि यह भक्त मेरे सच्चिदानन्द पूर्ण सुख में से कुछ भाग छीन लेगा, परन्तु प्रभो ! इतने कृपण क्यों हो रहे हो ? मुझ में इतनी शक्ति ही कहाँ है कि मैं आपके सुख में से भाग छीन सकूं परन्तु मैं तो यह चाहता हूँ कि आपकी भक्ति के द्वारा मुझे ऐसी शक्ति प्राप्त हो कि मैं भी अपने सम्पूर्ण, शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट करके निजानन्द की मस्ती में रम सकूं।

भले प्रभो ! आप मुझ से दूर रहें, अपनी मनोहर, मन-भावन मुख-मुद्रा के दर्शन भी न दें तो भी मेरे पास संचित भक्ति की चुम्बकीय शक्ति के द्वारा आपको आकर्षित करके मैं अपने मन-मन्दिर में प्रतिष्ठित करूँगा और अपने विशुद्ध प्रेम के पवित्र बन्धन से आपको ऐसा बाँधूगा कि आप उसमें से कदापि निकल नहीं सकेगें।

हे प्रभो ! आपका प्रत्यक्ष मिलन इस समय कदाचित् मेरे लिये दुर्लभ हो, फिर भी मेरे पास आपका पवित्र नाम रूप मंत्र-देह विद्यमान है। मैं उसका आलम्बन लूंगा। भरे हुए महासागर में बहता मनुष्य जिस अनन्य भाव

से लकड़ी के आलम्बन को समर्पित हो जाता है, उसी भाव से मैं आपके नाम रूपी आलम्बन को समर्पित होकर आपके दर्शन की अपनी प्यास बुझाऊँगा।

और प्रभो ! आपके सदृश आपकी पावन पड़िमा (प्रतिमा) का मैं जब-जब आलम्बन लेता हूँ, तब-तब तो मानों मुझे साक्षात् आप ही मिले हों ऐसा अपूर्व आनन्द होता है, हृदय हर्ष-विभोर होकर नेत्र अपलक बन अनन्य उत्साह एवं उमंग से आपके दर्शनामृत का पान करने लगते हैं। मन 'मेरा' मिट कर 'आपका' हो जाता है।

हे नाथ ! आपकी पावन प्रतिमा भी मेरे लिये अनन्य आधार है, भीषण भव-सागर में डूबते हुए को बचाने वाले सुन्दर, सुदृढ़ जहाज तुल्य हैं।

भक्त-हृदय की यह व्यथा उस भक्तिमय जीवन की प्रेरक कथा है।

भगवान को उपालम्भ देने का अधिकार सच्चे भक्त को ही होता है क्योंकि उस उपालम्भ के मूल में कोई सांसारिक लालसा नहीं होती, परन्तु वीतराग के परम विशुद्ध स्वरूप का श्रेष्ठ सम्मान होता है।

निष्काम भक्ति की चुम्बकीय (आकर्षण) शक्ति को त्रिलोक में कोई कदापि चुनौती नहीं दे सकता, क्योंकि वह त्रिभुवन-पति श्री अरिहन्त परमात्मा से सम्बन्धित होती है। अतः उसमें अरिहन्त परमात्मा का अचिन्त्य सामर्थ्य होता है।

श्री वीतराग, अरिहन्त परमात्मा का राग चाहे एक-पक्षीय है परन्तु वह अवश्य करने जैसा है, अपनाने जैसा है, नियमा उपयोगी है, क्योंकि उस राग में भक्त को वीतराग बनाने का स्वाभाविक सामर्थ्य है। भक्त-हृदय की व्यथा व्यक्त करने वाले वचनों में इस प्रकार का मर्म सुरभित होता है।

चेतन पर जड़ के स्वामित्व को नष्ट करने में श्री अरिहन्त परमात्मा की चारों निक्षेपा की भक्ति समान सामर्थ्य रखती है।

अतः सचेत भक्तों को सत्वर, जागृत होकर जड़-राग के आक्रमणों को विफल करने के लिये श्री अरिहन्त परमात्मा को, उनके नाम को, उनके आदेश को, उनकी उत्कृष्ट भावना को सम्मुख रख कर चलना चाहिये।

निज आत्मा के परमात्म-स्वरूप को प्रकट करने की जो उत्तम सामग्री हमें प्राप्त हुई है उसका उस दिशा में ही सदुपयोग करके हम निस्सन्देह सर्वोपयोगी, सर्वोपकारी, शुद्ध जीवन के चरम शिखर पर पहुँच सकेंगे।

शुद्धात्म स्वरूप प्रकट करने की शीघ्रता

जब-जब प्रभो। मैं आपके शुद्धात्म द्रव्य का विचार करता हूँ, तब-तब मुझे अपने ज्ञानावरणीय आदि कर्म से आच्छादित अशुद्ध आत्म द्रव्य में भी प्रच्छन्न रूप में निहित शुद्धात्म-स्वरूप के दर्शन होते हैं और उसे प्रकट करने की तीव्र अभिलाषा होती है।

इस प्रकार मेरे शुद्ध आत्म-द्रव्य का ज्ञान करा कर मेरे मिथ्यात्व-तहों का उच्छेद कराने में भी प्रभो! आपके शुद्धात्म द्रव्य का चिन्तन भी अनन्य सहायक होता है, उपकारी होता है।

प्रभो! जब-जब समवसरण में बैठ कर आप देशना देते हैं, उस दृश्य को अपने नेत्रों के समक्ष लाता हूँ, तब-तब तो मुझे यही होता है कि मैं भी इस बारह पर्षदाओं के मध्य बैठ कर आपकी अमृत-वृष्टि करती वाणी का पान कर रहा हूँ। आप ही मुझे इस संसार की दुःख-रूपता, दुःख-फलकता और दुःखानुबंधकता का वास्तविक भान करा रहे हैं और मोक्ष-प्राप्ति के उपायों का यथार्थ ज्ञान करा रहे हैं ऐसा आभास होता है।

हे नाथ! शरद-पूर्णिमा के चन्द्र की ज्योत्स्ना को लज्जित करने वाली अनुपम कान्ति-युक्त आपके मुख-चन्द्र का दर्शन स्मृति-पथ में आते ही हृदय हर्ष-विभोर हो जाता है और देवताओं द्वारा रचित समवसरण की अलौकिक रचना, अष्ट महाप्रातिहार्यों की अद्भुत शोभा, चौतीस अतिशयों की समृद्धि और पैंतीस गुणों से युक्त देशना आदि सब मुझे आपके प्रकृष्ट पुण्य की झलक प्रस्तुत करते हैं, आपकी 'सवि जीव करूँ शासन रसी' की उत्कृष्ट भाव-दया का स्मरण कराते हैं।

देवेन्द्रों, असुरेन्द्रों एवं नरेन्द्रों द्वारा पूज्य हे प्रभो! आज आपके समान नाथ को प्राप्त करके मैं कृतार्थ हो गया हूँ। निर्बल व्यक्ति भी बलवान

व्यक्ति की संगति से गर्जता है, निर्धन व्यक्ति भी धनवान की संगति से गर्व से अपना मस्तक ऊँचा कर सकता है और अवगुणी व्यक्ति भी गुणवान पुरुष की संगति से गौरव का अनुभव करता है। उस प्रकार से हे प्रभो! कर्म-कलंक से युक्त मैं आपके समान निष्कलंक के सानिध्य से गौरव का अनुभव करता हूँ, स्वयं को भाग्यशाली मानता हूँ, अपना जीवन सार्थक मानता हूँ।

आप मेरे नाथ हैं, मैं आपका दास हूँ। आप मेरे स्वामी हैं, मैं आपका सेवक हूँ। इस भव-अटवी में भटकते हुए कल्पवृक्ष की तरह मुझे आपका अमोध दर्शन प्राप्त हुआ है।

अत: अब इस अस्थिर, असार संसार में सारभूत यदि कोई है तो वह केवल आपकी सेवा ही है, ऐसा मुझे ज्ञात होता है।

हे नाथ! आपको शत्रु के प्रति तनिक भी रोष नहीं है, चाहे वह चंड़कौशिक के रूप में आये अथवा कमठ के रूप में आये; तथा आपको मित्र के प्रति राग नहीं है चाहे वह देव हो अथवा देवेन्द्र हो। आपकी समान दृष्टि को मैं जितने नमस्कार करूँ उतने कम हैं। स्वयंभू-रमण समुद्र के उदधि को लज्जित करने वाली आपकी असीम करुणा को कोटिशः प्रणाम करके भी मेरा मन तृप्त नहीं होता।

हे विश्व-वत्सल परमात्मा! आपके चित्त में स्थान प्राप्त करने की मैं याचना नहीं करता..........परन्तु प्रभो! मैं तो केवल यही याचना करता हूँ कि आप मेरे चित्त में आकर निवास करें.........फिर मुझे कर्म-शत्रुओं का तनिक भी भय नहीं है।

सर्वस्व समर्पण-भावना

हे परम उपकारी नाथ! मेरा तन, मन, धन जीवन और प्राण समस्त आपको समर्पित हैं। इन सब पर आपका स्वामित्व है। आपकी आज्ञा का प्रभुत्व उन पर स्थापित हो और महा मोह का बल मंद हो यही मेरी अभिलाषा है। मेरा सर्वस्व आपको समर्पित है, उसे स्वीकार करके प्रभो!

ग्राप मुझे ग्रपना बना लो ! मेरी जीवन-नैया की पतवार संभाल कर ग्राप मेरा उद्धार करो ।

हे नाथ ! सर्वस्व समर्पण-योग के इस साधना–पथ में मेरे पाँव न लड़खड़ायें, मेरा मन चल विचलित न हो जाये, उसके लिए ग्राप मेरे ग्रन्तः करण में सम्यग्दर्शन का दीपक प्रज्वलित करें ।

हे करुणा-सिन्धु ! ग्रापके चरण-कमलों की सेवा की मुझे भवो-भव भट दें ... .उस सेवा के सुख की मैं ग्रभिलाषा करता हूँ । आपके चरणों की सेवा ही मेरे मन में सर्वस्व है ।

हे अनन्त ज्ञानी प्रभु ! ग्रापकी भक्ति से मुझे यह सब ग्रवश्य प्राप्त होगा, ऐसी ग्रटल श्रद्धा मेरे ग्रन्तर में है, फिर भी ग्रन्तर की ग्रधीरता आपसे याचना कराती है । इस प्रकार की ग्रधीरता सात्विक भक्ति का एक लक्षण होने से सम्मानसूचक है, ग्रतः मुझे उसका तनिक भी शोक नहीं है ।

इस प्रकार भक्त प्रभु-भक्ति में ग्रग्रसर होता ही रहता है ग्रौर उसके जीवन में परमात्मा के प्रति श्रद्धा, समर्पण एवं ग्राज्ञा-पालन के गुण अधिकाधिक विकसित होते रहते हैं ।

ये तीन गुण ऐसे हैं कि जिनसे भक्त जीवन की समस्त त्रुटि-कमियाँ दूर हो जाती हैं ग्रौर इन तीनों गुणों को ग्रपना अंगभूत बनाकर भक्त भगवान के ग्रधिक समीप पहुँचता जाता है । फिर भी प्रभु के दर्शन नहीं होने पर वह उन्हें मधुर उपालंभ भी देता है ।

परमात्मा को उपालंभ

हे स्वामी ! ग्रापके तो ग्रनेक भक्त हैं, परन्तु मेरे लिये तो ग्राप एक ही स्वामी हैं । ग्राप मुझ पर कृपा-दृष्टि रखें ग्रथवा न रखें, मेरी भक्ति का मूल्य समझें ग्रथवा न समझें, परन्तु मैं ग्रापको छोड़ने वाला नहीं हूँ, क्योंकि भगवन् ! एक बार ग्रमृत का ग्रास्वादन करने के पश्चात् विष के प्याले की

ग्रोर दृष्टि कौन ड़ाले ? गंगा-जल में नित्य स्नान करने वाला व्यक्ति गंदे, दूषित जल से परिपूर्ण खड्ड़े में स्नान करने के लिये कैसे उत्सुक हो ? जिस व्यक्ति का मन मालती-पुष्प की मधुर सुगन्ध से प्रफुल्लित हो गया है वह ग्राक के पुष्प को सूंघने की ग्रभिलाषा क्यों करेगा ? उस प्रकार से ग्रलौकिक गुण-निधान तुल्य आपको पाकर फिर विषय-कषायाधीन देवों पर मन कैसे जायेगा ?

हे नाथ ! ग्रापने ग्रनेक भक्तों के हृदय ग्राकर्षित किये हैं, लुभाये हैं, ग्राप सवकी सेवा-भक्ति स्वीकार करके सबको ग्राश्वासन देते हैं, परन्तु वास्तव में तो ग्राप सम्पूर्णतः समर्पित किसी एक भक्त के साथ तादात्म्य हो जाते हैं ग्रौर मेरे समान गुणहीन भक्त की ग्राप उपेक्षा करते हैं, यह ग्रापके समान निरागी प्रभु के लिये उचित नहीं कहा जा सकता।

निरागी तो गुणहीन एवं गुणवान, पूजक ग्रथवा निन्दक सवके लिये समदृष्टि होते हैं। सूर्य-चंद्र ग्रपना प्रकाश प्रसारित करते समय कदापि भेद-भाव नहीं रखते, उसी प्रकार से ग्रापको भी यह सद्‌गुणी है ग्रौर यह गुण-हीन है ऐसा भेद-भाव रखना उचित नहीं है। एक का ग्रादर और एक का ग्रनादर करना भी ग्रापके समान विरागी के लिये शोभास्पद नहीं है। ग्रापके लिये तो बाँयी ग्रौर दाहिनी आँख की तरह कोई भी कम ग्रथवा ग्रधिक प्रेम-पात्र नहीं होना चाहिये।

हे नाथ ! माता को अपने मूर्ख एवं समझदार दोनों बालकों के प्रति समान वात्सल्य होता है तो विश्व-माता स्वरूप ग्राप इस बालक का तिरस्कार क्यों करते हैं, प्रभु ?

इस प्रकार भक्त के जीवन में भगवान के प्रति श्रद्धा ग्रधिकाधिक सुदृढ़ होती जाती है। जब यह श्रद्धा ग्रौर भक्ति पराकाष्ठा पर पहुँचती है तव भक्त संसार में रहने पर भी उसकी वृत्ति एवं प्रवृत्ति संसार से परे होती जाती है, जल-कमलवत् निर्लेप होती जाती है, रागादि की वृत्तियें निष्प्राण होती जाती हैं। जिस प्रकार लोह-कण चुम्बक की ग्रोर ग्राकर्षित होता है उस प्रकार से उसकी समग्रता भगवान की ओर ग्राकृष्ट होती है, भगवद्-भाव की ग्रोर खिचती है।

फिर उस भक्त को मुक्ति की अभिलाषा भी नहीं रहती। उसके दस प्राणों, सात धातुओं और साढ़े तीन करोड़ रोमों में प्रभु-भक्ति का अमृत ऐसा परिणत हो जाता है कि उसकी कोई अभिलाषा ही नहीं रहती, उसकी समस्त कामनाएँ सरलता से समाप्त हो जाती हैं। स्वप्न में भी यदि कोई इच्छा आंशिक रूप से उसे हो जाये तो वह तुरन्त उठ बैठता है और अश्रु-धारा बरसा कर अपने पापों को धोता है, धोकर उन्हें पावन करता है।

सती नारी के मन के किसी कोने में भी कभी पर-पुरुष का विचार नहीं आता, उसी प्रकार से परा भक्ति-युक्त भक्त के मन के किसी भी कोने में परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई प्रवेश नहीं पा सकता।

हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर कौए नहीं पहुँच सकते, उस प्रकार से ऐसे भक्त के मन के उत्तुंग शिखर पर दुर्विचारों के वायस नहीं पहुँच सकते। खाते-पीते, उठते-बैठते, कुछ भी कार्य करते तथा साँस लेते-छोड़ते समय ऐसे भक्त का उपयोग भगवान में ही होता है।

इस प्रकार की भक्ति को 'परा भक्ति' कहते हैं।

परा भक्ति अर्थात् विशुद्ध एवं ठोस भक्ति, सघन भक्ति।

इस परा भक्ति द्वारा आकर्षित परमात्मा भक्त के मन-मन्दिर में निवास करता है और भक्त अल्प-काल में ही भव-भ्रमण का अन्त लाकर शाश्वत सुख का भोक्ता बनता है।

परमात्म-तत्त्व मे ही यह स्वाभाविक परम सामर्थ्य है कि जो अपने अनन्य शरणागत को स्व तुल्य बना देता है।

परमात्मा का परम पावन दर्शन प्राप्त करने के लिये तरसते-तड़पते साधक के लिये भक्ति द्वितीय चरण है। प्रीति-योग में पारंगत होकर भक्ति-

भक्ति-योग में प्रविष्ट होने के पश्चात् ही आगे की भूमिका पर पहुँचा जा सकता है।

प्रीति-भक्ति विषयक प्रश्नोत्तर

प्रीति एवं भक्ति में अन्तर क्या है ?

उपलक दृष्टि से देखने पर तो प्रीति एवं भक्ति प्रेम के ही स्वरूप प्रतीत होते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उनका अन्तर स्पष्ट ज्ञात होता है।

प्रीति में स्नेह-भावना, याचना आदि की प्रधानता होती है, जबकि भक्ति में पूज्य-भाव, श्रद्धा आदि की प्रधानता होती है।

प्रीति एवं भक्ति के मध्यस्थ अन्तर को समझने के लिये पत्नी एवं माता का उदाहरण दिया जाता है।

दोनों प्रेम-पात्र हैं, तो भी दोनों के प्रेम में अन्तर है। पत्नी के प्रति स्नेह होता है, जबकि माता के प्रति पूज्य-भाव होता है, श्रद्धा एवं कृतज्ञता होती है। अतः स्नेह-भाव की अपेक्षा पूज्य-भाव का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

प्रीति-योग की अपेक्षा भक्ति-योग में मन की निर्मलता, स्थिरता अधिक होती है, चित्त की प्रसन्नता अधिक होती है; विषयों के प्रति विरक्ति, कषायों की मन्दता और गुणानुराग तीव्र होता है।

प्रीति-योग में परमात्म-दर्शन के लिये तरसता साधक कभी-कभी निराश हो जाता है, परन्तु भक्ति-योग में प्रविष्ट साधक कदापि निराश नहीं होता; क्योंकि उसकी श्रद्धा दृढ़तर बनती है। हजारों अन्तराय आने पर भी श्रद्धा के उस गढ़ की एक कंकरी भी नहीं गिरती, परन्तु वह उत्तरोत्तर दृढ़तर बनती जाती है।

फिर भी प्रीति नींव है, उस पर भक्ति रूपी भव्य प्रासाद का निर्माण होता है।

इस प्रकार प्रीति और भक्ति परस्पर गुथे हुए हैं। प्रीति में आकर्षण मुख्य है, भक्ति में स्थिरीकरण मुख्य है, तो भी दोनों अपने-अपने स्थान पर समान महत्त्व के हैं।

प्रश्न—प्रीति राग स्वरूप है और राग पाप-स्थानक होने से कर्म-बन्धन का हेतु है, तो उसके द्वारा परमात्म-दर्शन कैसे हो सकता है ?

उत्तर—कंचन, कामिनी, काया आदि बाह्य पदार्थों के प्रति की प्रीति अप्रशस्त राग-स्वरूप होने से वह अशुभ कर्म-बन्धक होती है; परन्तु परमात्मा, सद्गुरु एवं स्वधर्मी आदि की प्रीति प्रशस्त राग-स्वरूप होने से शुभ कर्म की बन्धक होती है तथा यह विशुद्ध भक्ति-भाव उत्पन्न करने वाली होने से आने वाले अशुभ कर्मों को रोक कर पूर्व कर्मों का भी विनाश करती है। इसलिये वह परमात्म-दर्शन का प्रथम साधन है।

प्रश्न—असंग अनुष्ठान अथवा समाधि अथवा तन्मय अवस्था परमात्म-दर्शन के साधन हैं, यह बात तुरन्त समझ में आ जाती है, परन्तु प्रीति से परमात्म-दर्शन कैसे होता है ?

उत्तर—प्रीति निष्काम और निरुपाधिक प्रेम-स्वरूप है वह भक्ति, वचन और असंग अनुष्ठान का मूल है।

श्रद्धा, रुचि अथवा इच्छा जागृत हुए विना किसी भी साधना का प्रारम्भ हो ही नहीं सकता; तथा साधना-काल में भी श्रद्धा, रुचि अथवा इच्छा उत्तरोत्तर प्रबल होती जाती है तो ही साधना की सिद्धि होती है। अतः प्रीति परमात्म-दर्शन का मूल कारण है।

प्रश्न—आत्म-ज्ञान अथवा अन्य योग-साधना से भी आत्म (परमात्म) दर्शन हो सकता है तो परमात्म-भक्ति को ही क्यों प्रधान मानते हैं ?

उत्तर—आत्म-ज्ञान अथवा आत्म-स्मरण आदि समस्त प्रकार के योग भी परमात्म-भक्ति से उत्पन्न होने से परमात्म-भक्ति-स्वरूप हैं; क्योंकि शास्त्रों में भक्ति का विशाल अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

(१) आश्रव रूपी असंयम का त्याग और संवर रूपी संयम का सेवन ही सच्ची परमात्म-भक्ति है।

(२) परमात्मा का आज्ञा त्रिविध रूप से पालन करना ही उनकी पारमार्थिक भक्ति है।

(३) परमात्मा का वचन (शास्त्र) उनकी आज्ञा स्वरूप है, अतः शास्त्रोक्त (गुरु-विनय, शास्त्र-श्रवण, अहिंसा, संयम और तप आदि) सद् अनुष्ठान भी परमात्मा की आज्ञा का पालन-स्वरूप परम भक्ति है।

(४) आत्म-स्वरूप में रमण करना भी परमात्मा की परा—भक्ति स्वरूप है।

(५) शास्त्र निर्दिष्ट उत्सर्ग-भाव-सेवा एवं अपवाद भाव सेवा का * विस्तृत स्वरूप समझने से ध्यान आयेगा कि चौथे गुण-स्थानक से चौदहवें गुण-स्थानक तक की समस्त प्रकार की साधना भी परमात्म-भक्ति ही है।

प्रश्न—श्री जिनागमों में वर्णन है कि सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति गुरु-उपदेश (अधिगम) और सहज स्वभाव (निसर्ग) से भी हो सकती है। उसमें अनायास ही प्राप्त होने वाले सम्यग् दर्शन के लिये तो परमात्म-भक्ति की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती न ?

उत्तर—परमात्मा की भक्ति के बिना कोई भी गुण प्रकट हो ही नहीं सकता। अतः सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति के समय भी प्रत्येक जीव जब परमात्मा

* उत्सर्ग भाव सेवा और अपवाद भाव सेवा का स्वरूप समझने के लिये पढ़े—'परमतत्त्व की उपासना' लेखक—पूज्य आचार्य श्री कलापूर्ण सूरीश्वर जी म.

का प्रेम और भक्ति-पूर्वक ध्यान करके परमात्मा के साथ तन्मय हो सकता है, तब ही उसे सम्यग्दर्शन (आत्म-दर्शन) प्राप्त होता है, उसके बिना प्राप्त नहीं होता।

अपूर्व भावोल्लास-पूर्वक परमात्मा का स्मरण करने से, उनके गुणों पर मनन करने से उनकी मूर्त्ति की पूजा करने से, उनके द्वारा प्ररूपित धर्म की आराधना करने से और उनकी किसी एक अवस्था में रमण करने से आत्मा में एक भारी ऊहापोह उत्पन्न होता है और उसके परिणाम-स्वरूप आत्मा स्व-दर्शन प्राप्त कर सकती है।

अपनी आत्मा की ही भावी परम विशुद्ध अवस्था को उत्कृष्ट प्रकार का सम्मान प्रदान करने की योग्यता सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् ही प्रकट होती है और सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति परमात्मा की प्रीति-भक्ति के द्वारा ही होती है। विशेष जिज्ञासुओं को उसके लिये कार्य-कारण भाव के अटल नियम का रहस्य समझना चाहिये।

वह निम्न लिखित है :--कोई भी छोटा या बड़ा कार्य दो प्रकार के कारणों की अपेक्षा रखता है। जिस प्रकार घड़ा बनाने में मिट्टी, चक्र, डण्ड़ा आदि कारणों की अपेक्षा रहती है। उसमें मिट्टी उपादान (मूल) कारण है और चक्र, डंड़ा आदि निमित्त कारण हैं, सहयोगी कारण हैं। उसी प्रकार से मोक्ष-प्राप्ति में सम्यग्-दर्शन आदि आत्म-गुण उपादान कारण हैं और परमात्म-भक्ति आदि निमित्त कारण हैं।

जिस प्रकार चक्र, डंड़ा आदि सहयोगी कारणों के बिना घड़ा नहीं बन सकता, उसी प्रकार से परमात्मा की भक्ति के बिना सम्यग्-दर्शन आदि गुण प्रकट नहीं हो सकते, तो फिर मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ?

प्रश्न--परमात्मा का प्रेम-पूर्वक गुण-गान और ध्यान किये बिना आत्म-दर्शन क्यों नहीं होता ?

उत्तर--अनादि काल से राग-द्वेष आदि आन्तरिक दोषों से घिरा हुआ जीव शरीर, सम्पत्ति, सुन्दरी और इन्द्रिय-सुख आदि अशुभ निमित्त

पाकर उनमें ही ग्रासक्त रहता है, जिससे उसे स्वतः ग्रात्म-भान होना दुष्कर है; परन्तु जब उसे श्री अरिहन्त परमात्मा का शुभ ग्रालम्बन मिलता है, तब उनकी ग्रसीम उपकारी महिमा सुन कर उनके प्रति प्रेम एवं भक्ति जागृत होती है ग्रौर क्रमशः उनका नाम-स्मरण, पूजा, स्तवन, वन्दन, प्रार्थना ग्रादि करने से साधक का हृदय निर्मल, निर्मलतर होता जाता है। ग्रशुभ संकल्प-विकल्पों की लहरें शान्त होने पर चित्त-सागर प्रशान्त एवं स्थिर हो जाता है तब परमात्मा का सालम्बन-ध्यान करने की शक्ति साधक में प्रकट होती है।

ध्यान में तन्मय होने पर ध्येय-स्वरूप परमात्मा का ध्याता के निर्मल चित्त में ग्रौर ग्रन्तरात्मा में प्रतिबिम्ब पड़ता है।

उस समय ध्याता, ध्येय एवं ध्यान की एकता-रूप समापत्ति सिद्ध होती है। उसे ही परमात्मा-दर्शन कहते हैं।

इस प्रकार ग्रनेक बार के ग्रभ्यास से साधक परमात्मा के साथ ग्रभेद प्रणिधान सिद्ध करके ग्रात्म-दर्शन (ग्रात्मानुभूति) प्राप्त करता है।

ग्रात्मानुभूति केवल ग्रनुभव-गम्य है। यह अनुभव भौतिकता से विरक्त हुए बिना नहीं होता। अनुभव का उक्त द्वार खोलने के लिये परमात्मा को भक्ति-भाव-सिक्त हृदय से भजना पड़ता है। बाह्य जगत में बिखरे मन को परमात्मा में केन्द्रित करना पड़ता है। ऐसे केन्द्रीकरण के लिये परमात्मा के गुणों का गान एवं ध्यान नितान्त ग्रावश्यक है।

प्रश्न—क्या प्राणायाम ग्रादि प्रक्रिया द्वारा चित्त को स्थिर ग्रथवा शून्य करके हठ-समाधि द्वारा ग्रात्म-दर्शन नहीं प्राप्त किया जा सकता? ग्राज ग्रनेक व्यक्ति इस प्रकार के प्रयोग करते हैं उसका क्या?

उत्तरः—चित्त की शून्य ग्रवस्था करने मात्र से ही ग्रात्म-दर्शन नहीं होता। यदि चित्त की शून्य ग्रवस्था करने मात्र से ही ग्रात्म-दर्शन हो सकता हो तो समस्त एकेन्द्रिय ग्रादि ग्रसंज्ञी जीवों को स्वतः सिद्ध ग्रात्म-दर्शन मानना पड़ता है क्योंकि उनके मन होता ही नहीं।

तथा चित्त की अकेली स्थिरता से भी आत्म-दर्शन नहीं हो सकता क्योंकि ऐसी स्थिरता अपना भक्ष्य (शिकार) प्राप्त करने के लिये एकाग्र होने वाले बुगलों, बिलावों आदि में कहाँ नहीं होती ?

अतः आत्म दर्शन की प्राप्ति (आत्मानुभूति) तो चित्त की निर्मलता युक्त स्थिरता एवं तन्मयता द्वारा ही हो सकती है।

उस प्रकार की चित्त की निर्मलता परमात्मा, सद्गुरु अथवा उनके द्वारा प्रदर्शित अहिंसा आदि व्रतों की उपासना के द्वारा ही हो सकती है; परन्तु केवल बाह्य प्रयोगों से नहीं हो सकती।

मलिन दर्पण में पदार्थ का प्रतिबिम्ब प्राप्त करने की क्षमता नहीं होती उसी प्रकार से राग-द्वेष-युक्त मलिन मन को आत्म-संवेदन का स्पर्श नहीं होता।

चित्त को विशुद्ध करके आत्मानुभूति करने के लिये 'परमात्म-भक्ति' प्रधान साधन है।

परमात्म-भक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए साधक को परमात्म-दर्शन अवश्य होता है।

परमार्थ से परमात्मा की दर्शन-पूजा स्व-आत्मा की दर्शन-पूजा है।

समस्त कर्म रहित शुद्ध आत्मा परमात्मा है, कर्म-ग्रस्त आत्मा जीवात्मा है।

जीवात्मा परमात्मा तब ही बन सकती है, जब वह अनन्य भाव से परमात्मा की शरण अंगीकार करती है, परमात्मा के आलम्बन का त्रिविध से स्वीकार करती है।

परमात्म-तत्त्व आत्म-बाह्य तत्त्व नहीं है, परन्तु आत्म-तत्त्व का ही परम विशुद्ध स्वरूप है। उसका प्रकटीकरण पूर्ण विशुद्ध परमात्मा की उत्कृष्ट भक्ति के द्वारा होता है।

इस प्रकार परमात्मा की भक्ति के प्रताप से साधक की आत्मा विशुद्ध, विशुद्धतर भूमिका को प्राप्त करती-करती अन्त में परमात्मा बन जाती है।

प्रश्न—क्या जिनागमों में भक्ति का स्थान है ?

उत्तर—भक्ति एवं विनय पर्यायवाची हैं, एकार्थक हैं। आगम ग्रंथों में विनय एवं भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन में विनय की शिक्षा दी गई है।

श्री आवश्यक सूत्र में चउवीसथ्थो एवं वन्दन अध्ययन द्वारा भी देवाधि-देव परमात्मा एवं गुरु की विनय (भक्ति) को आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में व्यक्त किया गया है।

'चैत्यवन्दन भाष्यादि' ग्रन्थों में परमोपकारी श्री अरिहन्त परमात्मा की भक्ति, शास्त्रोक्त विधि पूर्वक चैत्यवन्दन करने के सुन्दर निरूपण द्वारा व्यक्त की गई है।

एवं चैत्यवन्दन (स्तुति) का फल स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति विधिपूर्वक भावोल्लास से चैत्यवन्दन करता है, वह शीघ्र परमात्म-दर्शन, सम्यग्-दर्शन आदि प्राप्त करके क्रमशः परम पद प्राप्त करता है।

'श्री उवसग्गहरं स्तोत्र' में श्रुतकेवली भगवंत श्री भद्रबाहु स्वामीजी ने भक्ति-पूर्ण हृदय से श्री पार्श्वनाथ परमात्मा की स्तुति करके उसके फल के रूप में बोधि-परमात्म-दर्शन की याचना की है।

'श्री जयवीयराय सूत्र' में पूर्ण विनय-भक्ति झलक रही है।

'नमस्कार महामंत्र' में भी 'नमो' शब्द परमात्मा की प्रीति एवं भक्ति का द्योतक है। 'श्री दशवैकालिक सूत्र' में विनय-भक्ति को धर्म-वृक्ष की मूल कहा गया है।

ज्ञानादि पाँचों आचारों में भी विनय-भक्ति व्याप्त है।

प्रात: स्मरणीय गणधर भगवंत श्री गौतम स्वामीजी की अनन्त लब्धियों के मूल में भी परमात्मा श्री महावीर प्रभुजी के प्रति उनका उत्कृष्ट विनय निहित है।

इस प्रकार शास्त्रों में अनेक विधि से विनय-भक्ति की व्यापकता व्याप्त है।

परमात्मा की दर्शन-पूजा करते समय साधक के हृदय में परमात्मा के प्रति अपूर्व प्रेम उत्पन्न होता है तब वह परमात्मा के गुणों की स्तुति करने के लिये तत्पर होता है।

स्तुति, स्तवन, चैत्यवन्दन अथवा प्रार्थना के द्वारा परमात्मा के अद्‌भुत गुणों का गान किया जाता है। भावोल्लास पूर्वक किये गये गुण-गान से परमात्मा के प्रति प्रकृष्ट भक्ति-भाव जागृत होता है। परमात्म-भक्ति के द्वारा अनुक्रम से वचन एवं असंग अनुष्ठानों में हमारा प्रवेश होता है और भक्त के मन-मन्दिर में भगवान का पवित्र निवास होता है।

प्रश्न—प्रीति-भक्ति का लक्षण क्या है ?

उत्तर—जब परमात्मा के प्रति प्रीति-भक्ति प्रकट होती है तब अन्य समस्त पदार्थों की ओर का राग-प्रेम क्षीण होने लगता है, विषय—विमुखता एवं कषाय-मंदता में वृद्धि होती है, क्षण-क्षण में परमात्मा का स्मरण होता है, समग्र शरीर में रोमांच होने लगता है, नेत्रों में हर्षाश्रु उमड़ पड़ते हैं, मन में अपूर्व शान्ति छा जाती है और अन्तःकरण निरभ्र गगन के समान निर्मल हो जाता है।

शास्त्र में प्रीति-भक्ति अनुष्ठान के निम्नलिखित लक्षण बताये गये हैं—

प्रीतिः—यत्रादरोऽस्ति परमः प्रीतिश्च
हितोदया भवति कर्तुः ।
शेषत्यागेन करोति यच्च,
तद् प्रीति अनुष्ठानम् ॥

अर्थः—जिस (अनुष्ठान) में परम आदर एवं परम प्रीति होती है, वह प्रीति कर्त्ता के लिये हितोदय करने वाली होती है और शेष (प्रवृत्ति) के त्याग से जो करता है, वह प्रीति अनुष्ठान है।

तात्पर्य यह है कि परम तारणहार परमात्मा के प्रति परम आदर एवं परम प्रीतिमय तथा अन्य समस्त प्रवृत्तियों के त्याग से परिपूर्ण जो अनुष्ठान होता है, उसे प्रीति अनुष्ठान कहा जाता है।

भक्ति—अनुष्ठान के विषय में शास्त्रों में कहा है कि—

गौरवविशेषयोगाद् बुद्धिमतो यद्विशुद्धतरयोगम्।
क्रियेतर तुल्यमपि ज्ञेयं तद्भक्त्यनुष्ठानम्॥

—१०-४, (षोडशक प्रकरण)

अर्थः—विशेष गौरव (पूज्य-भाव, सम्मान) के योग से बुद्धिमान पुरुष का जो विशुद्धतर योग वाला अनुष्ठान उस क्रिया के (अन्य व्यक्ति द्वारा किये गये प्रीति अनुष्ठान से) तुल्य प्रतीत होता हो तो भी वह भक्ति-अनुष्ठान होता है। अर्थात् भक्ति-अनुष्ठान में परमात्मा के प्रति पूज्य-भाव, आदर-भाव विशेष होता है।

आशा ही नहीं विश्वास है कि प्रीति-भक्ति सम्बन्धी इस प्रश्नोत्तरी से परमात्म-पद की साधना के सुज्ञ साधक को श्री जिनोक्त साधना की संगीनता में अटूट श्रद्धा उत्पन्न होगी और परमात्मा को सच्ची श्रेष्ठ भावना से स्मरण करने का बल प्राप्त होगा।

सांसारिक पदार्थों के प्रति भावना रखने में आत्मा का सम्मान नहीं होता, उसका अपमान होता है; आत्मा का सम्मान तो श्री जिनेश्वर देव द्वारा फरमाये धर्म की आराधना करने से ही होता है। उस आराधना का प्रारम्भ परमात्म-प्रीति है। उस सत्य को अंगीकार करके सब लोग परम कल्याणकारी परम पद की उपासना में अग्रसर हों।

वचन-योग

□

शास्त्र के सम्मान से परमात्मा का सम्मान

□

परमात्म प्रीति एवं भक्ति में अग्रसर साधक परमात्मा के प्रति तीव्र अनुरागी और दृढ़ श्रद्धालू वनता है।

उक्त अनुराग एवं श्रद्धा ज्यों-ज्यों दृढ़तर होते जाते हैं, त्यों-त्यों साधक के हृदय में परमात्मा के वचनों के प्रति सम्मान में वृद्धि होती जाती है और श्री जिन-आज्ञानुसार जीवनयापन करने की लौ लगती है।

सचमुच, परमात्मा की आज्ञा का पालन ही परमात्मा की तात्त्विक सेवा-भक्ति है, क्योंकि जब तक पूजनीय व्यक्ति के वचनों पर श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती, तब तक उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने की इच्छा भी नहीं होती और जब तक उनकी आज्ञानुसार जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति नहीं होती, तब तक उनकी कृपा एवं अनुग्रह प्राप्त करने की भूमिका पर नहीं पहुँचा जाता। उसके बिना साधना-मार्ग में प्रगति नहीं की जा सकती।

किसी सांसारिक मनुष्य की कृपा भी उसके अनुकूल चलने वाले मनुष्य को ही प्राप्त होती है। लोकोत्तर धर्म-मार्ग में भी यही नियम चलता है।

"आज्ञाराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥"

यह सूत्र उक्त नियम का समर्थन करता है।

या तो आज्ञा मानो और शिव-पद का वरण करो, या आज्ञा का उल्लंघन करो और भीषण भव बन में भटकते रहो। इन दो के अतिरिक्त तीसरा कोई विकल्प नहीं है।

अतः आध्यात्मिक मार्ग में प्रगति के अभिलाषी साधक को परमात्मा एवं उनसे परिचय कराने वाले सद्गुरु की कृपा और अनुग्रह अवश्य प्राप्त करना चाहिये और उसे प्राप्त करने के लिये आज्ञा-प्रधान जीवन जीना ही चाहिये ।

तब साधक के समक्ष प्रश्न उठता है कि, "परमात्मा की आज्ञा क्या होगी, जीवन में उसका पालन किस प्रकार होगा और परमात्म-कृपा किस प्रकार प्राप्त होगी ?"

इन समस्त प्रश्नों का समाधान करने के लिये वह सद्गुरु की शरण में दौड़ता है और वहाँ से उसे ज्ञात होता है कि परमात्मा के शास्त्र ही परमात्मा के वचन हैं। उनमें वर्णित हेय, ज्ञेय, उपादेयता को जीवन में आत्मसात् करना ही परम कृपालू परमात्मा की परम पावन आज्ञा है ।

आत्मा को स्वभाव से भ्रष्ट करने वाले जो जो तत्त्व हैं, जो जो वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ है उनका त्रिविध त्याग करना और जो जो वृत्तियाँ प्रवृत्तियाँ आत्मा को स्वभाव में स्थिर बनाने वाली हैं, उनका त्रिविध अत्यन्त सम्मानपूर्वक स्वीकार करना ही परम पिता परमात्मा की सर्व-कल्याणकारी आज्ञा का निष्कर्ष है ।

आज्ञा का उल्लंघन करके कोई आत्मा को स्वभाव में स्थापित नहीं कर सका और स्वभाव में रमण करने के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति पर-भाव में रमणता को टाल नहीं सका। पर-भाव-रमणता भयानक पराधीनता है, जबकि आज्ञानुसारिता उत्कृष्टतम स्वतन्त्रता की टिकिट है ।

अतः परम स्वतन्त्रता के इच्छुक मनुष्य, मुक्ति-कामी मनुष्य अपार उल्लास से श्री जिनाज्ञा का पालन करते हैं. आज्ञा-पालक जीवन को जीने योग्य मानते हैं, आज्ञा-निरपेक्ष जीवन में एक साँस लेने में व्याकुल होते हैं ।

इस प्रकार की जिनाज्ञा का पालन जीवन में तब ही किया जा सकता है जब जीवन का प्रत्येक क्षण शास्त्रानुसार व्यतीत हो और वह तब ही सम्भव हो सकता है यदि शास्त्रों का ससम्मान अध्ययन, मनन, चिन्तन और परि-शीलन किया जाये ।

दीपक अन्धकार में ज्योति भरता है, उसी प्रकार से शास्त्र त्रिलोकवर्ती पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ स्वरूप में प्रकाशित करते हैं जिससे अज्ञानान्धकार में घुटते जीव को स्व-स्वरूप का दर्शन होता है; इस जीव ने अनन्त वार भौतिक पदार्थों का उपभोग किया, फिर भी उसकी प्यास बुझी ही नहीं—उस सत्य का दर्शन होता है।

कर्म-सत्ता ने एक वार श्रेष्ठतम पौद्गलिक पदार्थ प्रदान करके आत्मा का स्वागत, आतिथ्य किया और दूसरी बार वीभत्स से वीभत्स पदार्थों का उपयोग करने के लिये उसे मजबूर करके उसका क्रूरतापूर्ण उपहास किया, तो भी चेतन की पौद्गलिक आसक्ति नहीं मिटी।

यह सब चिन्तन श्री जिनोक्त शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा ही सम्भव है, इसके बिना हो ही नहीं सकता। सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा द्वारा प्ररूपित शास्त्र ही लोकालोक का वास्तविक ज्ञान करा कर जीवों को सुमार्ग की ओर उन्मुख करके दुर्गति में डूबने से बचा सकते हैं।

"जो मनुष्य ऐसे सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा द्वारा प्ररूपित शास्त्रों की उपेक्षा करके अदृष्ट अतीन्द्रिय आत्मा, धर्म और परमात्मा जैसे विषयों में चौंच डालने का प्रयास करते हैं वे कदम-कदम पर ठोकर खाकर अत्यन्त दुःखी होते हैं।"

सर्वज्ञ परमात्मा के शास्त्रों का सम्मान वास्तव में सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा का ही सम्मान है। इसलिये ही स्वरचित 'ज्ञानसार' के शास्त्राष्टक में पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज फरमाते हैं कि—

"शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद् वीतरागः पुरस्कृतः।
पुरस्कृते पुनस्तस्मिन्न नियमात् सर्वसिद्धयः॥"

अर्थः—शास्त्र को आगे करने से श्री वीतराग परमात्मा की आज्ञा-पालन-स्वरूप पराभक्ति होने से वीतराग ही आगे होते है और उनके प्रभाव मे समस्त योगों की सिद्धि होती है।

अर्थात् जिन्हें श्री वीतराग तीर्थंकर परमात्मा के वचनों के प्रति आदर, सम्मान, श्रद्धा हो और जो तदनुरूप आचरण करने के लिये सतत प्रयत्नशील हों, उन्होंने सचमुच श्री वीतराग तीर्थंकर परमात्मा का ही यथार्थ रूप से सम्मान किया कहा जायेगा और उन्हें समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होंगी।

शास्त्रों का इतना असाधारण महत्त्व प्रदर्शित करने का उद्देश्य यही है कि भूतकालिक, वर्तमान-कालिक एवं भावी समस्त तीर्थंकर देवों की आज्ञा निःशंक होकर पालन करने की अपार शक्ति प्राप्त होती है।

वह आज्ञा यही है कि हेय का त्याग करो, उपादेय का स्वीकार करो।

आश्रव हेय-त्याज्य है, क्योंकि वह संसार-वृद्धि का कारण है; जबकि संवर उपादेय है क्योंकि वह मोक्ष का कारण है।

एक तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा का सम्मान करने से समस्त तीर्थंकर देवों की आज्ञा का सम्मान होता है और एक तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा का अपमान करने से समस्त तीर्थंकर देवों की आज्ञा का अपमान होता है; क्योंकि सब कालों के समस्त तीर्थंकर देवों की आज्ञा का तात्त्विक स्वरूप एक ही प्रकार का होता है। उसका सार है—आत्म-तत्त्व की आराधना, समस्त जीवों के प्रति आत्मवत् भाव और आत्म-समदर्शित्व।

शास्त्रों का महत्त्व

श्री जिन-वचन की अंगभूत शास्त्र सापेक्ष क्रियाएँ ही सुफल दायिनी सिद्ध होती हैं, शास्त्र निरपेक्ष क्रियाएँ सुफलदायिनी नहीं होतीं।

शास्त्र बाती एवं घी विहीन दिव्य दीपक है।
शास्त्र अहंकार रूपी गज का अंकुश है।
शास्त्र स्वच्छन्दता के ज्वर को उतारने वाली औषधि है।
शास्त्र पाप रूपी पंक का शोषण करने वाला सूर्य है।
शास्त्र पुण्य को पुष्टता प्रदान करने वाला उत्तम रसायन है।

शास्त्र सर्वतोगामी चक्षु है।

शास्त्र समस्त प्रयोजन सिद्ध करने वाला कल्प-तरु है।

शास्त्र अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाला तेजस्वी तारा है।

शास्त्र द्वितीय दिवाकर एवं तृतीय लोचन है।

शास्त्र जीवन की ज्योति, अन्तर की उषा और उज्ज्वल भविष्य की भीड़ है।

शास्त्र मोह के साम्राज्य को परास्त करने वाला अमोघ शस्त्र है।

शास्त्र विकार के बादल को विलय करने वाली विराटकाय वायु है।

शास्त्र पर-भाव को परास्त करके स्व-भाव में स्थिर करने वाला सद्गुरु है।

शास्त्र सच्चा सखा, बन्धु, मित्र, स्नेही और वैद्य है।

शास्त्र पयोधि के बिना ही प्रगट हुआ पीयूष और अन्य की अपेक्षा से रहित ऐश्वर्य है।

शास्त्र धर्म रूपी उद्यान को पुलकित करने वाली अमृत की नाली है।

इस प्रकार के अपार उपकारी शास्त्रों पर (श्री जिन-वचन पर) जिसे अनन्य श्रद्धा है, जो शास्त्रों में वर्णित आचारों का पालन करने वाला है, जो शास्त्रों का ज्ञाता एवं उपदेशक है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, व्यवहार में शास्त्र को अपना नेत्र बनाकर चलता है, ऐसा योगी परम-पद प्राप्त करता है।

प्रश्नः—शास्त्रों का इतना गुण-गान क्यों किया गया है?

उत्तर:—शास्त्र सर्वज्ञ वीतराग श्री तीर्थंकर परमात्मा के वचनों का संग्रह है।

श्री तीर्थंकर परमात्मा की अनुपस्थिति में उनके वचन ही भव्य जीवों के लिये आधार हैं।

विशिष्ट ज्ञानी भगवंत के अभाव में भी उनके समान ही सूक्ष्म ज्ञान शस्त्रों के अध्ययन से प्राप्त होता है। केवल–ज्ञानी भगवंत केवल-ज्ञान के बल से जैसा प्ररुपण कर सकते हैं, उसी प्रकार का प्ररुपण श्रुतकेवली भगवंत श्रुत के अध्ययन से कर सकते हैं।

शास्त्र परमात्मा के वचन का अंग होने से परमात्मा के समान ही पूजनीय है।

कहा है कि—"जिनवर जिन आगम एक रूपे।
सेवंता न पड़ो, भव–कूपे।"

तात्पर्य यह है कि स्वयं श्री जिनराज के समान उनके वचन और उनके संग्रह के रूप में आगम भी जीव को भव रूपी अगाध अंधकारपूर्ण कुएँ में गिरने से बचाकर परम-पद पर प्रतिष्ठित करते हैं।

'एकं अपि जिन वचनं निर्वाहको भवति' अर्थात् श्रीजिनराज का एक वचन भी उनके अनन्य शरणागत को भव-सागर से पार करता है।

श्री जिन-वचन की यह अद्वितीय विशेषता है कि उसे ग्रहण करके ज्यों-ज्यों उसका मनन करते हैं, त्यों-त्यों उसमें से आत्म-स्नेहवर्धक माधुर्य प्रस्फुटित होता है।

जो-जो आत्मा परम-पद को प्राप्त हुई हैं, प्राप्त हो रही हैं और प्राप्त होंगी, वे समस्त श्री जिनोक्त शास्त्राज्ञा के पालन के बल पर ही प्राप्त हुई हैं, प्राप्त हो रही हैं और प्राप्त होंगी, यह निस्सन्देह है।

सम्यग्-श्रुत (शास्त्र) के यथार्थ अध्ययन के द्वारा विवेक-दृष्टि खुलती है, जिससे त्याज्य, ग्राह्य एवं हिताहित का विवेक उत्पन्न होता है।

विवेक से वैराग्य में वृद्धि होती है, जड़ पदार्थों के प्रति राग का क्षय होता है और जीव-तत्त्व के प्रति स्व-तुल्य भाव उत्पन्न होता है, जिससे संयम सुदृढ़ होता है और उसके द्वारा कर्म-शत्रुओं का अन्त किया जा सकता है तथा

अन्त में आत्मा का सच्चिदानन्दघन स्वरूप प्रकट किया जा सकता है। इसलिये ही तो महा पुरुषों ने शास्त्रों का इतना गुण-गान किया है। कहा है कि—

"यस्य त्वनादरः शास्त्रे, तस्य श्रद्धादयो गुणाः।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वान्न प्रशंसास्पदं सताम् ॥"

अर्थः—जिसे शास्त्र के प्रति अनादर होता है, उसके श्रद्धा आदि गुण उन्मत्त व्यक्ति के गुणों के समान होने से संत पुरुषों द्वारा प्रशंसा-पात्र नहीं हो पाते।

परन्तु जिस भाग्यशाली व्यक्ति को शास्त्रों के प्रति भक्ति होती है उसके लिये वह शास्त्र-भक्ति मुक्ति-दूत हो सकती है। इस प्रकार शास्त्र के अधीन बना साधक ही साधना के क्षेत्र में यथार्थ रूप से प्रगति कर सकता है।

शास्त्र फरमाते हैं कि देव, गुरु, धर्म की परतन्त्रता स्वीकार करने वाला धन्य व्यक्ति सर्व कर्म परतन्त्रता से सर्वथा मुक्त होकर मुक्ति का अधिकारी हो सकता है।

जिनका त्रिभुवन पर एक-छत्र राज्य है उन श्री अरिहन्त परमात्मा की आज्ञानुसार जीवनयापन करने वाले भाग्यशाली की सुरक्षा का सम्पूर्ण उत्तर-दायित्व धर्म-महासत्ता वहन करती है। उनकी साधना में आवश्यक शक्तियों का योग, विकसित शक्तियों का क्षेम (सुरक्षा) योगक्षेमंकर परमात्मा के अचिन्त्य सामर्थ्य से होता है।

इस प्रकार परमात्म-आज्ञा योग-क्षेम करके साधक की साधना में प्राणों का संचार करती है, उसे वेगवती बनाती है।

आज्ञापालन अर्थात् आज्ञा-पालन। उसमें तर्क के लिये कोई स्थान नहीं है। यदि कोई सैनिक अपने सेनापति की आज्ञा का पालन करने के समय आज्ञा का पालन करने के बदले तर्क करता है तो वह दण्ड का भागी होता है। उसी तरह से जो मनुष्य त्रिभुवन-पति श्री अरिहंत परमात्मा की सर्वथा निरवद्य आज्ञा का पालन करने के अवसर पर यदि तर्क करते हैं, कि यह आज्ञा

पालने से सचमुच लाभ होगा अथवा नहीं, होगा तो कितने समय में होगा ? होने के पश्चात् वह लाभ स्थायी रहेगा अथवा नहीं, वे एक ऐसी उलझन में फंस जाते हैं जिसमें से बाहर निकलना उनके बस की बात नहीं होती।

महान् मोह रूपी पहलवान (मल्ल) को मात करने का परम सामर्थ्य केवल श्री जिनाज्ञा में है, उसके त्रिविध पालन में है। इस सत्य में सम्पूर्ण श्रद्धा रखने वाला साधक तो श्री जिनेश्वर देव और उनकी आज्ञा को त्रिविध से समर्पित सद्गुरु को समर्पित होकर साधन-पथ में अग्रसर होता रहता है और परमात्मा के समीप पहुँचता जाता है।

ज्यों-ज्यों वह समीप पहुँचता है, त्यों-त्यों उसकी दर्शन, मिलन की अभिलाषा अदम्य होती जाती है, तीव्रतर होती जाती है, स्वरूप-संवेदन अधिक सजीव होता जाता है, आत्मा एवं परमात्मा के मध्य की अभेद की अनुभूति जाज्वल्यमान होती जाती है और परमात्मा की आज्ञा में जो आत्मा को परमात्मा बनाने का परम सामर्थ्य होने का शास्त्रीय विधान है वह सर्वथा सही प्रतीत होता है।

आगमों में नव-तत्त्व, षड्-द्रव्य, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, क्षायिक आदि पाँच भाव, द्रव्य-गुण-पर्याय, पंचास्तिकाय, निश्चय-व्यवहार, उत्सर्ग-अपवाद, सप्तनय और सप्त भंगी तथा कर्म का जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप प्रदर्शित किया गया है उसका अन्तिम तात्पर्य यही है कि आत्मा के स्वरूप का वास्तविक परिचय प्राप्त करके, कर्म की परतंत्रता से भव-भ्रमण करती हुई आत्मा को भव-बंधन से मुक्ति दिलाकर शाश्वत सुख का भोक्ता बनाना।

तीन लोकों में सारभूत द्वादशांगी है और द्वादशांगी का सार निज शुद्ध आत्मा है। तीन लोक से आत्मा अधिक है। आत्मा है तो तीन लोकों का ज्ञान है। उस ज्ञान की स्वामिनी आत्मा विश्व की स्वामिनी है।

द्रव्य से आत्मा ही ऐसी महिमामयी है कि उसके साथ किया गया स्नेह अनन्त लाभ का कारण बनता है। अनन्त अव्याबाध सुख का कारण

भी शुद्धआत्म-स्नेह है। आत्मा ही उपादेय है, ज्ञेय है और ध्येय है। ज्ञात करने योग्य भी आत्मा है और आदरणीय भी एक आत्म-तत्त्व ही है। वह चिन्मय एवं आनन्दमय है, नित्य एवं स्वाधीन है। सब जानकर भी जिसने एक आत्मा को नहीं जाना उसने कुछ नहीं जाना। शुद्ध निज आत्म-स्वरूप के यथार्थ ज्ञान विहीन समस्त ज्ञान एक के अंक विहीन शून्यों के समान है।

जो मनुष्य आत्म-स्वरूप का सच्चा परिचय प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें ही परमात्म स्वरूप का सच्चा परिचय प्राप्त होता है।

जिस व्यक्ति ने एक आत्म-तत्त्व का निश्चय कर लिया उसे परमार्थ से समस्त तत्त्व का, समस्त चराचर विश्व का निश्चय हो ही जाता है। कहा है कि—"जो एगं जाणई सो सव्वं जाणइ" —श्री आचारांग सूत्र

शुद्ध आत्म-स्वरूप का ठोस परिचय प्राप्त होने पर परमात्म-स्वरूप से यथार्थ परिचय हो ही जाता है क्योंकि परमात्म-तत्त्व आत्मा से भिन्न तत्त्व अथवा पदार्थ नहीं है। यह तो आत्म-तत्त्व का ही परम विशुद्ध स्वरूप है जिसका यथार्थ स्पर्श श्री अरिहन्त परमात्मा की भाव युक्त भक्ति के प्रभाव से साधक को होता है।

इस प्रकार के स्पर्श के पश्चात् डांवाडोल चित्त अड़ोलता धारण करता है, निज उपयोग से कदापि भ्रष्ट नहीं होने वाली आत्मा के उपयोग में स्थिर रहता है। यह स्थिरता परमानन्द समाधि का बीज बनता है, जो जन्मान्तर में साधक के साथ रह कर साधक को साध्यमय बनाने का अपना कर्त्तव्य पूर्ण करता है।

इस प्रकार का परमात्म-स्वरूप मेरी आत्म में भी है यह जानकर उसे प्रकट करने के लिये साधक परमात्मा के नाम आदि निक्षेपा के आलम्बन द्वारा उनके स्मरण और ध्यान में आगे बढ़ता है।

प्रत्येक छद्मस्थ के लिये परमात्मा के चारों निक्षेपा के आलम्बन आवश्यक ही नहीं, परन्तु अनिवार्य हैं। इन चार निक्षेपा में से किसी एक

निक्षेपा का आलम्बन लेकर ही वह मोक्ष-मार्ग की साधना में आगे बढ़ सकता है।

श्री जिनाज्ञा के अंगभूत शास्त्रों में पूर्ण श्रद्धा रखने से ऐसी सन्मति प्रकट होती है, जिससे सम्यग्-ज्ञान एवं सम्यग् ध्यान में रमण करता हुआ साधक आत्म-स्वभाव में, सच्चारित्र में स्थिरता प्राप्त करता है।

इस प्रकार शास्त्र-योग के द्वारा वचन-अनुष्ठान में प्रवृत्त साधक अच्छी तरह परमात्म-स्वरूप का ध्यान कर सकता है और उसमें दक्षता प्राप्त करके परमात्मा के अरूपी गुणों के ध्यान-स्वरूप निरालम्बन ध्यान में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त करता है।

इस स्तर तक पहुँचा हुआ साधक विषय-कषाय की परिणति से परे होकर अन्तरात्म दशा में स्थिर होता है, उसके चित्त में सत् के स्वामित्व की स्थापना होती है, चंचलता, अधीरता, उत्सुकता आदि के अंश भी उसके चित्त के समस्त भागों में से लुप्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि वह आत्म-स्वभावी बन कर परमात्मा के ध्यान में एकात्म हो जाता है। उस समय उसे इतना अपूर्व आनन्द आता है कि विश्व की कोई भी वस्तु चाहे वह मणि हो अथवा माणिक, कनक हो अथवा कामिनी, पुष्प हो अथवा कंटक तनिक भी राग अथवा द्वेष का कारण नहीं बनता। अर्थात् परस्पर विरोधी वस्तुओं के प्रति भी वह सम-भाव रखता है और आगे बढ़ कर मुक्ति एवं संसार दोनों के प्रति भी समदृष्टि रखता है; क्योंकि संसार का भय सर्वथा नष्ट हो जाने से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा भी उसके हृदय में से लुप्त हो जाती है।

इस प्रकार की आन्तरिक दशा ही 'परा-भक्ति' कहलाती है जो भक्त को भगवत्-स्वरूप की प्राप्ति करा देती है।

इस प्रकार की भक्ति में ऐसी ऊष्मा और प्रभा होती है कि करोड़ों वर्षों में भी क्षय नहीं होने वाले कठोर कर्मों को भी श्वासोश्वास जितने अल्प समय में क्षय कर डालती है।

इस प्रकार की भक्ति वचन-अनुष्ठान द्वारा अर्थात् श्री जिनाज्ञा के सम्पूर्ण पालन द्वारा उत्पन्न होती है।

अत: परमात्मा-दर्शन-मिलन की लगन वाले साधक को वचन-अनुष्ठान द्वारा परमात्मा की परा-भक्ति सिद्ध करके आत्म-साधना में अग्रसर होना चाहिये।

इस प्रकार अग्रसर होने वाला साधक परमात्म-कृपा का अधिकारी होकर आत्मा एवं परमात्मा के भेद का छेदन करके परमात्म-मिलन के अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है।

असंग-योग

□

आत्मिक सुख का अनुभव

□

प्रीति-भक्ति एवं वचन-योन के यथार्थ स्वरूप को जान-समझ कर अब हम असंग-योग के यथार्थ स्वरूप को समझें।

शास्त्र-सापेक्ष प्रवृत्ति करते समय, परमात्मा के प्रति अतिशय आदर-सम्मान वाला साधक जब परमात्म-ध्यान के अभ्यास के द्वारा परमात्म-स्वरूप में लीन होता है तब उसे अन्तरात्मा में ही परमात्मा के दर्शन होते हैं।

ध्यान के द्वारा परमात्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण करने वाला ध्याता ध्यान की धारा को अभंग-अखंड रूप से धारण करता है तब उसे स्वात्मा में ही परमात्मा के दर्शन होते हैं—यही तात्त्विक परमात्म-दर्शन है। कहा है कि—

> प्रभु निर्मल दर्शन कीजिये;
> आतम ज्ञान को अनुभव दर्शन,
> सरस सुधा-रस पीजिये·········प्रभु निर्मल०—

ये पंक्तियाँ निर्मल प्रभु दर्शन प्राप्त अनुभव-योगी के अनुभव को प्रति-ध्वनित करती हैं।

प्रभु का दर्शन आत्मा का अनुभव स्वरूप है और वह ठोस आत्म-ज्ञान से प्राप्त होता है। आत्मानुभव अथवा आत्मज्ञान का ठोस अनुभव ही वास्तविक प्रभु-दर्शन है, जिसकी मधुरता सरस सुधा-रस से भी अधिक है; अर्थात् आत्मानुभव का आनन्द अपूर्व कोटि का होता है, शब्दातीत होता है। तीन

लोकों के किसी भी पदार्थ में उस प्रकार का आनन्द प्रदान करने की शक्ति नहीं होती।

प्रत्येक आत्मा सत्ता से सिद्ध परमात्मा के समान है। ज्योति स्वरूप सिद्ध परमात्मा का ध्यान ही वास्तविक परमात्म-दर्शन है।

किसी भी जीव को सम्यग्-दर्शन का स्पर्श होने पर इस प्रकार का परमात्म-दर्शन होता है कि जिसके लिये साधक ने इतना प्रयास किया था, पुरुषार्थ किया था, वही अनन्त सामर्थ्य-निधान परमात्मा उसे अपने अन्तर में ही प्राप्त होने पर, उनका पुनित-पावन दर्शन होने पर, उसका आनन्द असीम होता है, अनन्त होता है। स्वयं में पूर्णता अवलोकन करके वह परम तृप्ति का अनुभव करता है, परम सुख एवं शान्ति का अपूर्व आस्वादन करता है।

अब उसे इन्द्र, चन्द्र आदि की ऋद्धि भी तनिक भी आकृष्ट नहीं कर सकती। आत्मा के सच्चिदानन्द-धन स्वरूप में रमणता ही उसे अपूर्व सुख-शान्ति और आनन्द प्रदान करने वाली है, यह सत्य जीवित होता है। पहले जानता था वह सत्य अब उसके जीवन में प्रकट होता है।

पहले उसे जिस पौद्गलिक सुखाभास में सुख का भ्रम होता था, वह अब उसे माँग कर लाये आभूषणों की शोभा के समान प्रतीत होता है। माँग कर लाये हुए आभूषणों की शोभा कब तक रहती है? वे आभूषण कितने समय तक आपको आनन्द दे सकेंगे? अल्प समय के लिये ही तो देंगे न? फिर तो वह शोभा और आनन्द नष्ट ही होंगे न? और ऊपर से आपके कष्टों में वृद्धि ही करेंगे न?

बस, इसी प्रकार से पौद्गलिक सुख भी क्षणिक आनन्द प्रदान करके, दुःखों की परम्परा का सृजन करके वे चले जाने वाले ही हैं, उन पर आत्मा का कोई अधिकार नहीं होने से वे कदापि स्थायी नहीं रह सकते। इस सत्य को हजम करके वह स्वभाव-रमणता का सहज आनंद उठाने में तन्मय रहता है, लीन रहता है।

यह आनन्द आत्मा के घर का होने से आत्मा के समान अमर है, शाश्वत है, अच्छेद्य है, अखण्ड है। क्रूर कर्म अथवा कराल काल भी उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता।

अन्तरात्मा में परमात्म-दर्शन

जिस परमात्मा के दर्शन अन्तरात्मा में ही हो सकते थे, उनके लिये अनन्त काल तक बाहर ही भटकता रहा जिसका उसे अपार खेद होता है।

जो वस्तु जहाँ न हो, वहाँ उसे चाहे जितनी खोजें तो वह कहाँ से मिलेगी ? नहीं मिलेगी।

परन्तु सद्‌गुरु जब ज्ञानांजन से साधक-भक्त की दृष्टि खोलते हैं तब वह आत्म-सुख को बाहर खोजना छोड़कर अन्तर्मुखी होता है; अन्तरात्मा में परमात्म-दर्शन प्राप्त करके अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है और स्वयं परमात्मा के गुण-निधान का स्वामी बना हो ऐसा उसे प्रतीत होता है; अर्थात् परमात्मा में निहित अनन्त गुण स्वयं के प्रत्येक आत्म-प्रदेश में होने का सामान्य अनुभव भी उसे पहली बार होता है।

आत्मानुभव का पराक्रम और सुख

इस प्रकार की परमात्म-गुण की अनुभव रूपी चन्द्रहास खड्ग कदापि म्यान में नहीं रह सकती। वह तो मोह रूपी महान् शत्रु का नाश करके ही रहती है। महान् पराक्रम के प्रेरक इस अनुभव के सुख का वर्णन करना असम्भव है, क्योंकि वर्णन करने का साधन जिह्वा वहाँ तक पहुँच ही नहीं सकती।

जिस प्रकार वन में रहने वाला कोई मनुष्य, राजा का अतिथि बने और विभिन्न पकवानों से युक्त भोजन आदि का आनन्द उठाये, परन्तु जब वह पुनः अपने निवास पर लौटे तब वह वन के सुखों से उन सुखों की तुलना नहीं कर सकता; क्योंकि वन की किसी भी वस्तु में उसे उस प्रकार के सुख का अंश मात्र भी प्रतीत नहीं होता। उसी प्रकार से अनुभव-योगी स्वभाव रमणता

के अलौकिक सुख का जो अनुपम आस्वादन कर रहा हो. उसकी वह विश्व किसी भी वस्तु के साथ तुलना नहीं कर सकता, क्योंकि विश्व की किसी भी आत्म-वस्तु के सुख का एक अंश भी नहीं होता।

यह अनुभव-सुख केवल अनुभव-योगी ही प्राप्त कर सकता है। शब्दों के द्वारा इस सुख का शत-शत जिह्वाओं से श्रुत-देवता भी यथार्थ वर्णन नहीं कर सकते।

साधक जब इस अनुभव-स्तर तक पहुँचता है तब उसे स्वतः ही सब समझ में आ जाता है।

समता का अनुपम सुख

समता आत्मा की सम्पत्ति है। समता आत्मा का धन है।

आत्मा में मग्न रहने वाला साधक इस धन का स्वामी होकर उसके अनुभव का अलौकिक आनन्द मना सकता है।

गुलाब के इत्र से पूर्ण हौज में निश-दिन स्नान करने वाले व्यक्ति को भी इस आनन्द के एक अंश का भी कदापि अनुभव नहीं होता।

समता-सुख के एक अंश का यथार्थ वर्णन सैंकड़ों ग्रन्थों में समाविष्ट हो जाये उतना लेखन करने पर भी नहीं हो सकता।

उत्तम शास्त्र-ग्रन्थ 'समता' का निरूपण करते हैं, समता के लाभ का वर्णन करते हैं, समता से भ्रष्ट होने पर आत्मा की होने वाली दुर्दशा को सही रूप से प्रस्तुत करते हैं, परन्तु वे समता के अनुभव-गत सुख का वर्णन नहीं कर सकते। उसका तो अनुभव ही करना पड़ता है।

शर्करा के स्वाद का वर्णन करने वाले सैंकड़ों ग्रन्थों का पठन करने वाले व्यक्ति को उक्त वर्णन पढ़ने से उसकी मधुरता का अनुभव नहीं होता जो शर्करा में होती है।उसकी मधुरता का अनुभव तो तब ही होता है जब वह उसे हाथ में लेकर मुंह में डालता है और जीभ से चखता है।

फिर भी श्री जिनोपदिष्ट शास्त्रों का यह महान् उपकार है कि जो आत्मा को पहचानने का, उसका सत्कार करने का, उसे अपनाने का चस्का लगाते हैं तथा उसी दिशा में वे परम उपकारक ज्योति बिखेर कर जीवों को जड़ पदार्थों के राग में न रंगने की प्राणदायिनी प्रेरणा देते हैं।

श्री जिनोक्त शास्त्र भव अटवी में भटकते जीवों के लिये उतने ही उपकारी हैं, जितना उपकारी बन में भूले-भटके प्रवासी को लिये पथ प्रदर्शक होता है।

इस शास्त्र की आँख से साधना के शिखरों पर विजय प्राप्त करने वाला साधक परमात्म-ध्यान में मग्न होकर ही उक्त समता सुख का अनुभव कर सकता है।

अनुभव-योगी की आत्मिक दशा

परमात्म-स्वरूप के ध्यान में मग्न बने योगियों को अपनी आत्मा सच्चिदानंदमय प्रतीत होती है। इतना ही नहीं, विश्व की प्रत्येक आत्मा भी सच्चिदानंदमय प्रतीत होती है। उनकी दृष्टि में से कृपा की सतत वृष्टि होती रहती है। उनकी वाणी में से समता रूपी अमृत झरता रहता है जो त्रिविध तापों से संतप्त जीवों को अपने सान्निध्य मात्र से शीतलता प्रदान कर सकता है।

पर-भाव से मुक्त इस प्रकार के योगी को स्व-भाव सुख का अपूर्व लाभ होने पर फिर विश्व में प्राप्त करने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता; पर वस्तु विषयक लालसा का एक अंश भी उसके मन के किसी भी भाग में शेष नहीं रहता। अतः वह स्वभाव-रमणता में तन्मय रह सकता है।

चित्त के किसी भी भाग में यदि पर पदार्थ की स्पृहा होती है तो चित्त स्व में मग्न नहीं हो सकता। वह विकल्पों की तरंगों में भटकता रहता है जिससे वह महान् दुःख का कारण बनता है; जबकि निस्पृहता विकल्प की लहरों को शान्त करके समता का अनुपम सुख प्रदान करती है।

स्वानुभव दशा का प्रभाव अपरम्पार है। वह स्व-पर उपकारी है, जड के चेतन पर स्वामित्व को नष्ट करने में अद्वितीय है। इस प्रकार का योगी विश्व के किसी भी क्षेत्र में रह कर भी सूर्य-चन्द्र से भी अधिक उपकार विश्व पर करता है।

वचन एवं असंगता का कार्य-कारण भाव

वचन-अनुष्ठान के प्रति सर्वथा स्वामि-भक्त (वफादार) रह कर असंग अनुष्ठान में प्रवेश हो सकता है।

'अ-संग' अर्थात् बाह्य-अभ्यंतर निर्ग्रन्थता, सर्व संग रहितता।

जिस प्रकार डंड़े से चक्र को घुमाने के पश्चात् कुछ समय तक डंड़े की सहायता के बिना भी वह चक्र (चाक) घूमता रहता है, उसी प्रकार से सम्यग्-ज्ञान की तीक्ष्णता द्वारा ध्यान में तन्मय बना साधक अमुक समय तक शास्त्र-ज्ञान की सहायता के बिना भी स्व स्वरूप के ध्यान में लीन रह सकता है। तब वचन-अनुष्ठान असंग-अनुष्ठान का कारण बनता है और असंग-अनुष्ठान उसका कार्य बनता है।

असंग दशा का काल अत्यन्त अल्प होता है। अतः कुछ समय तक आत्म-अनुभव का आस्वादन करके साधक पुनः वचन-अनुष्ठान का आश्रय लेता है

इस असंग दशा में ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकतारूप समापत्ति सिद्ध होती है, संकल्प-विकल्प की ऊर्मियां शान्त हो जाती हैं और चित्त की अनुपम स्थिरता के द्वारा अविकल्प दशा की अनुभूति होती है, जिसमें निरंजन-निराकार-ज्योति-स्वरूप सत्ता से सिद्ध परमात्मा तुल्य आत्मा की साक्षात् अनुभूति होती है। उस समय स्वभाव के सर्वोत्कृष्ट सुख का अनुभव होता है, शान्ति-समता का अस्खलित प्रवाह प्रवाहित होने लगता है, चन्दन एवं सुगन्ध का अभेद आत्मा एवं समता के मध्य स्थापित होता है।

कहा भी है कि 'जिस मुनि को आत्मा में शुद्ध स्वरूप का दर्शन एवं विशेष ज्ञान हुआ है अर्थात् मेरी आत्मा भी अनन्त ज्ञानादि गुण पर्याय से

युक्त है ऐसी सम्यक् श्रद्धा एवं ज्ञान के साथ आत्म-स्वभाव में स्थिरता, रमणता, तन्मयता प्राप्त हुई हो उसे ही आत्म स्वभाव की आनन्दानुभूति होती है।

ज्ञान-सुधा के सागर तुल्य पर-ब्रह्म शुद्ध ज्योति-स्वरूप आत्म-स्वभाव में मग्न मुनि को समस्त रूप-रस आदि पौद्गलिक विषयों की प्रवृत्ति विष की वृद्धि करने जैसी अत्यन्त भयानक अनर्थ कारक लगती है।

आत्म-स्वभाव में मग्न मुनि को किसी भी पदार्थ का कर्तृत्व नहीं होता, केवल साक्षी ही रहती है। अतः वे तटस्थ रूप से समस्त तत्त्वों के ज्ञाता होते हैं परन्तु वे कर्त्ता के रूप ये गर्व नहीं रख सकते।

इस प्रकार की ज्ञाता-दृष्टा-भावना उस स्वभाव-मग्न मुनि की अग्रगण्य लाक्षणिकता है। "स्वभाव-सुख में मग्न साधक ज्ञानामृत का पान करके, क्रिया रूपी कल्पलता के मधुर फलों का भोजन करके, और समता परिणाम रूपी ताम्बूल का आस्वादन करके परम तृप्ति अनुभव करता है।"

आत्म-साक्षात्कार से होने वाला आश्चर्य

इस प्रकार का साधक ही यथार्थ आत्म-सक्षात्कार कर सकता है।

जब आत्म-साक्षात्कार होता है तब साधक को "यही मेरा तात्त्विक-दर्शन एवं तात्त्विक मिलन है" इस प्रकार का परमात्म-स्वर स्पष्टतया हृदयगत होता है, जिससे साधक को अपार आनन्द एवं आश्चर्य होता है।

आश्चर्य इस बात का होता है कि 'अहो! यह तो 'मैं' मुझे ही नमस्कार कर रहा हूँ।

सचमुच, भ्रमर का ध्यान करने से ईयल जिस प्रकार भ्रमरी हो जाती है, उसी प्रकार से परमात्मा का ध्यान करने वाली आत्मा भी परमात्म-ध्यान से परमात्मा हो जाती है।

यह न्याय सर्वथा उचित ठहरने का कारण आत्मा में परमात्म तत्व का अस्तित्व है जो परमात्मा के ध्यान के प्रभाव से प्रकट होता है।

'सिरि सिरिवाल कहा' में वर्णन आता है कि 'जब श्रीपाल राजा श्री नवपद के ध्यान में तादात्म्य हो जाते हैं तब उन्हें सम्पूर्ण विश्व नवपदमय प्रतीत होता है' यह वाक्य भी महान अनुभव-योग को प्रस्तुत करता है।

श्री जिनेश्वर प्रभु के ध्यान में लीन साधक को अपनी आत्मा और आगे जाकर सम्पूर्ण विश्व जिनमय प्रतीत होता है।

पूज्य श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरीश्वरजी महाराजा ने शक्रस्तव में इस बात की ही पुष्टि की है।

जिनो दाता जिनो भोक्ता, जिनः सर्वमिदं जगत् ।
जिनो जयति सर्वत्र, यो जिनः सोऽहमेव च ।।

अर्थः—जिन दाता एवं भोक्ता है, सम्पूर्ण विश्व जिनेश्वरमय है। जिनेश्वर की सर्वत्र जय होती है और जो जिनेश्वर है वह मैं ही हूँ।

असंग दशा, निर्विकल्प दशा पी अनालम्बन-योग अथवा सामर्थ्य-योग सब पर्यायवाची हैं।

इस प्रकार के सामर्थ्य-योग के द्वारा परमात्मा को किया गया एक ही नमस्कार मनुष्य का संसार-सागर से उद्धार कर देता है। यह बात 'सिद्धाणं बुद्धाणं' सूत्र में 'इक्कोवि नमुक्कारो' गाथा द्वारा स्पष्ट की गई है।

इस दशा में जब तात्त्विक रीति से आत्म-तत्त्व का निर्णय होता है तब ही तात्त्विक रीति से परमात्म–तत्त्व का निर्णय हो सकता है और जब तात्त्विक रीति से आत्मा एवं परमात्मा का निर्णय हो जाता है तब ही अन्य समस्त तत्त्वों का तात्त्विक निर्णय होता है।

जब सम्पूर्ण तत्त्व का तात्त्विक निर्णय होता है तब समस्त अनुष्ठान तात्त्विक बनते हैं। इस प्रकार के तात्त्विक अनुष्ठान तुरन्त शाश्वत सुखदायक सिद्ध होते हैं।

जिन-जिन महापुरुषों ने मुक्ति प्राप्त की है, प्राप्त कर रहे हैं अथवा जो प्राप्त करेंगे वे समस्त इस असंग-अनुष्ठान के द्वारा ही करेंगे, यह बात निस्सन्देह है।

प्रारम्भ प्रीति से, प्रगति भक्ति से और सिद्धि असंग से यह क्रम है और तत्पश्चात् विनियोग की कक्षा आती है।

साधक की अद्भुत स्थिरता

आत्म-स्वभाव में लीन साधक का चित्त अड़ोल एवं मेरुवत् निष्कंप होता है। उसमें देह-भाव का अंश भी नहीं होता, परन्तु आत्म-ज्ञान का अखण्ड साम्राज्य होता है।

इसलिये ही तो इस प्रकार की दशा में मग्न खंधक मुनिवर अपने देह की चमड़ी उतार ली जाने पर भी स्वभाव में मग्न रहे, अटल रहे! वे पर भाव में फिसले नहीं।

श्री गजसुकुमाल मुनिवर के सिर पर खेर के जलते अंगारों से परिपूर्ण ठीव रखा गया तो भी वे आत्म-मस्ती में मस्त रहे, क्योंकि देह पर-पदार्थ है और आत्मा स्व-पदार्थ है। उनके लिये यह सत्य अस्थि-मज्जावत् हो गया था, यह सत्य उनके साढ़े तीन करोड़ रोमों में पूर्णतः परिणत हो गया था।

इस प्रकार की स्व-परिणति स्वात्म-रमणता के पश्चात् ही प्रकट होती है।

इस प्रकार की असंग दशा में स्थित योगी को यदि खंधक मुनिवर के पाँच सौ शिष्यों की तरह कोल्हू में पेला जाये तो भी उनका चित्त आत्म-

दशा में से विचलित नहीं होता; क्योंकि देह एवं आत्मा दोनों भिन्न पदार्थ होने का ज्ञान उसने आत्मसात् किया हुआ होता है। अतः जो बिगड़ती है, जलती है, पेली जाती है अथवा तपती है वह देह है, मेरी आत्मा नहीं है; क्योंकि आत्मा तो अजर-अमर है। योगी इस प्रकार की निश्चल भावना के चरम शिखर पर आरूढ होता है।

इस प्रकार की निश्चल भावना द्वारा साधक अन्तर्मुहूर्त्त में क्षपक श्रेणी पर चढ़कर, केवल ज्ञान प्राप्त करके, शैलेशीकरण करके शाश्वत-धाम में पहुँच सकता है।

ये हैं असंग दशा के ठोस उदाहरण एवं प्रत्यक्ष फल।

पूजा, जाप, ध्यान और लय

□

प्रीति आदि चार अनुष्ठानों की उत्तरोत्तर
अधिक फल-दायिनी शक्ति

□

पूजा कोटि समं स्तोत्रं, स्तोत्रकोटि समो जपः ।
जपकोटि समं ध्यानं, ध्यानकोटि समो लयः ॥

अर्थ :—परमात्मा की एक करोड़ बार की गई द्रव्य-पूजा जितना फल एक स्तोत्र-पूजा में है। कोटि स्तोत्र-पूजा के समान फल परमात्मा के पवित्र नाम के जाप का है। करोड़ जाप जितना फल परमात्मा के ध्यान का है और करोड़ ध्यान जितना फल लय में है।

इस श्लोक से हमें सरलता से स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य की अपेक्षा भाव का मूल्य कितना अधिक है; परन्तु भाव उत्पन्न करने के लिये और उसमें वृद्धि करने के लिये द्रव्य की भी उतनी ही आवश्यकता है। इस कारण ही सर्व-प्रथम परमात्मा की द्रव्य-पूजा करने का शास्त्रों ने निर्देश दिया है। तत्पश्चात् स्तोत्र, स्तुति, स्तवनादि द्वारा परमात्मा की भाव-पूजा करने का निर्देश दिया गया है। फिर जाप, तत्पश्चात् ध्यान और अन्त में लय में प्रवेश होता है इस बात का भी निर्देश दिया गया है।

'श्री जिन-प्रतिमा की द्रव्य-पूजा करने से त्रिभुवन द्वारा पूज्य परमात्मा की पूजा करने वाला मैं अब तुच्छ स्वार्थ की पूजा नहीं करूँगा'—यह भाव मन को स्पर्श करता है। इस भाव के स्पर्श से मन प्रफुल्लित होता है और स्वतः

ही श्री जिनराज की भाव-पूजा के अंग-भूत स्तोत्र, स्तवन आदि करने की हमारी इच्छा होती है। परमात्मा का गुण गान करते-करते उनके उन गुणों के असीम उपकारों का हमें भान होता है।

ऐसा भान होने के पश्चात् हमारे मन में परमात्मा का मान तुरन्त बढ़ जाता है, परमात्मा हमारे हृदय में बस जाता है।

अतः परमात्मा के नाम का जाप हमें अपने नाम से भी अधिक प्रिय लगता है।

ज्यों-ज्यों जाप गहन, व्यापक एवं ताल-बद्ध होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें से राग-द्वेष विनाशक ताप उत्पन्न होता जाता है। तत्पश्चात् शब्द-जाप, नाम-जप घटने लगता है और ध्यान की धारा प्रारम्भ होती है।

इस प्रकार का ध्यान लाने से नहीं आता, परन्तु इस प्रकार की पूजा-भक्ति की क्रमिक प्रक्रिया द्वारा वह साकार होता है।

और परमात्म-स्वरूप के ध्यानाभ्यास द्वारा आत्म-स्वरूप में तल्लीनता आती है. अर्थात् 'अहं' का विलय हो जाता है।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व के पूजा-अनुष्ठान उत्तरोत्तर के अनुष्ठानों में प्राण-पूरक होते हैं और साधक उसी क्रम से आगे बढ़ सकता है, प्रगति कर सकता है।

सर्वप्रथम पुद्गल के आकर्षण से चकाचौंध चित्त को पुनः लौटाने और पौद्गलिक आसक्ति तोड़ने के लिये श्रेष्ठतम द्रव्यों द्वारा परमात्मा की पूजा की जाती है।

अपने प्रिय को स्वयं को प्रिय से प्रिय वस्तु प्रेम से अर्पण करना मानव-स्वभाव है। ऐसा करने से दोनों के मध्य का प्यार अत्यन्त सुदृढ़ होता है, परन्तु यह लौकिक प्रेम एकान्त हितकर नहीं है। परमात्मा के प्रति प्रेम

एकान्त हितकर है, क्योंकि परमात्मा की प्रीति की ड़ोर से बँधा हुआ साधक तुच्छ स्वार्थ एवं तज्जनित समस्त बन्धनों का त्यागी सिद्ध होता है।

यह प्रीति छुपी नहीं रहती, चुप नहीं बैठ पाती, परन्तु परमात्मा के गुण गा-गाकर हर्षित होती है; अर्थात् इस प्रीति वाला साधक परमात्मा के गुणों का चिन्तन करता हुआ भक्ति-अनुष्ठानों में प्रविष्ट होता है, स्तोत्र द्वारा अन्तःकरण को परमात्मा के गुणों से भावपूर्ण करके जाप रूपी वचन-अनुष्ठान में प्रविष्ट होता है और जाप द्वारा चित्त की निर्मलता एवं स्थिरता होने से असग दशा में प्रविष्ट होकर लय-अवस्था-रूप (आत्म-स्वरूप-लीनता रूप) फल का आस्वादन करता है।

इस प्रकार पूजा में प्रीति-अनुष्ठान की, स्तोत्र में भक्ति-अनुष्ठान की, जाप में वचन-अनुष्ठान की और ध्यान में असंग-अनुष्ठान की प्रधानता होती है।

पूजा प्रीति-अनुष्ठान को पुष्ट करती है; स्तोत्र भक्ति-अनुष्ठान को पुष्ट करता है; जाप वचन-अनुष्ठान को पुष्ट करता है और ध्यान असंग-अनुष्ठान को पुष्ट करता है तथा असंग-अनुष्ठान द्वारा परमात्म-दर्शन रूपी अलौकिक फल की प्राप्ति होती है।

जिस प्रकार पूजा की अपेक्षा स्तोत्र, स्तोत्र की अपेक्षा जाप, जाप की अपेक्षा ध्यान और ध्यान की अपेक्षा लय का फल करोड़ गुना है; उसी प्रकार से प्रीति की अपेक्षा भक्ति का, भक्ति की अपेक्षा वचन का और वचन की अपेक्षा असंग-अनुष्ठान का फल करोड़ गुना है तथा असंग-अनुष्ठान द्वारा प्राप्त होने वाले परमात्म-दर्शन का फल अनन्त गुना है क्योंकि उससे आत्म-दर्शन होता है और आत्म-दर्शन परमानन्द प्रदान करता है।

तात्पर्य यह है कि परमानन्द की नींव प्रीति है, प्रासाद भक्ति है, शिखर जाप है और कलश ध्यान है।

यदि प्रीति नहीं तो फिर भक्ति कैसी ? यदि भक्ति नहीं तो जाप कैसा ? यदि जाप नहीं तो ध्यान कैसा ? फिर लय तो संभव ही नहीं।

तो प्रीति-पात्र कौन? सर्व गुण-सम्पन्न परमात्मा, सर्व दोष रहित परमात्मा। परमात्मा की प्रीति में से ही आत्मा को परमात्मा बनाने वाला तेज प्रकट होता है, बल प्रकट होता है, वीर्य का स्फुरण होता है।

आत्म-दर्शन करने वाले साधक की वृत्ति एवं प्रवृत्ति

जिस व्यक्ति को एक बार आत्म-दर्शन हो गया हो, उसकी वृत्ति एवं प्रवृत्ति पर आत्म-रति की अमिट छाप होती है। उसकी वृत्ति एवं प्रवृत्ति में तुच्छ स्वार्थ एवं राग-द्वेष रूपी संसार के समक्ष कदापि नतमस्तक नहीं होने का सत्त्व होता है। वह पाँच इन्द्रियों के विषयों में फँसता नहीं, चार कषायों के चक्कर में उलझता नहीं। भव-निर्वेद संवेग (मोक्ष-प्राप्ति की तीव्र उत्कंठा) उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य होता है। वह स्वात्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट करने के प्रबल पुरुषार्थ में सदा रत रहता है और प्राप्त मानव-जीवन के प्रत्येक क्षण का आत्म-साधना में सदुपयोग करने के लिये वह कटिबद्ध होता है।

आत्म-दर्शन के पश्चात् रुचि, प्रीति, मति, ध्यान और उपयोग आत्मा में रहते है।

"सम्यग् दृष्टि आत्मा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर थी अलगो रहे, जिम धाव खेलावत बाल।।"

इस उक्ति को सार्थक करने का सत्य सम्यग्-दृष्टि आत्मा में होता है।

अतः ऐसी सम्यग्-दृष्टि वाली आत्मा मोक्ष में जाने से पूर्व कदाचित् जन्म-मरण के फन्दे से उलझ जाये, दैवी एवं मानुषी सुखों के शिखर पर आरूढ़ हो अथवा दुःख के दावानल में फँस जाये तो भी वह कदापि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का सृजन नहीं करती। अरे! एक आयुष्य कर्म छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति अन्तः कोड़ा-कोड़ी से अधिक बाँधता नहीं है। अधिक से अधिक अपार्ध पुद्गल-परावर्त्त काल में तो वह शाश्वत सुख का भोक्ता अवश्य बनता है।

यह है परमात्म-दर्शन और उसके द्वारा होने वाले आत्म-दर्शन का फल।

इस प्रकार किसी भी योग, अध्यात्म अथवा धर्म-साधना का वास्तविक पूर्ण फल-प्रीति, भक्ति, वचन (शास्त्रोक्त विधि) एवं असंगता के द्वारा ही प्राप्त होता है जिससे परमात्म-दर्शन की साधना में भी प्रीति, भक्ति, वचन और असंग-अनुष्ठान की ही प्रधानता है।

यदि प्रीति-भक्ति युक्त पूजा आदि की जाये तो क्रमशः परमात्म-दर्शन अवश्य हो सकता है; क्योंकि इस काल में भी अप्रमत्त गुण-स्थानक तक तो पहुँचा ही जा सकता है।

परमात्म-दर्शन एवं समापत्ति

सम्यग्-दर्शन द्वारा परमात्मा का दर्शन प्राप्त होता है और सम्यग्-चारित्र द्वारा परमात्मा से मिलन होता है।

अप्रमत्त आदि गुण स्थानक में वास्तविक तौर से ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता रूप समापत्ति होती है जिससे ध्याता की आत्मा भी ध्येयाकार धारण करके परमात्मा के साथ अभेद भाव से मिल जाती है। कहा भी है कि–

ध्याता-ध्येय-ध्यान पद एके।
भेद छेद करशुं हवे टेके॥
क्षीर-नीर परे तुमशुं मिलशुं।
वाचक यश कहे हेजे हलशू॥

सच्चारित्रवान् श्री उपाध्यायजी भगवतं के ये हृदयोद्गार ग्रहण करके आत्मा और परमात्मा के मध्य स्थित भेद की दीवार को धराशायी करने के लिये हम सब आज से ही तात्त्विक-जीवन की सच्ची भूख जागृत करने वाले प्रीति आदि अनुष्ठानों में अपनी समग्रता को केन्द्रीभूत करके इस मानव-भव को उज्ज्वज करें।

'दर्शन' शब्द के विविध अर्थ और नयों की अपेक्षा से दर्शन

दर्शन शब्द के अनेक अर्थ व्यवहार में प्रचलित हैं जैसे—देखना, जानना, सामान्य ज्ञान, सामान्य उपयोग आदि; परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में 'दर्शन' शब्द

मुख्यतया सम्यग्-दर्शन, तत्त्व-दर्शन, आत्म-दर्शन, शुद्ध स्वभावानुभूति, परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

चर्म चक्षुओं के द्वारा होने वाले इस दर्शन से यह दर्शन सर्वथा निराला है। अतः प्रज्ञा-चक्षु को भी यह दर्शन सुगम होने का विधान है।

नयों की अपेक्षा से दर्शन

(१) नैगम नय की अपेक्षा से प्रभु दर्शन अर्थात मन, वचन, और काया की चंचलता के साथ केवल चक्षुओं से प्रभु-मूर्ति को देखनी।

(२) संग्रह नय की अपेक्षा से प्रभु-दर्शन अर्थात् समस्त जीवों में सिद्ध के समान शुद्ध सत्ता का दर्शन करना।

(३) व्यवहार नय की अपेक्षा से प्रभु दर्शन अर्थात् आशातना रहित वन्दन-नमस्कार सहित प्रभु-मुद्रा अथवा प्रभु की देह को देखना।

(४) ऋजु सूत्र नय की अपेक्षा से प्रभु-दर्शन अर्थात् योगों की स्थिरता-युक्त उपयोग से प्रभु-मुद्रा देखना।

(५) शब्द नय की अपेक्षा से प्रभु-दर्शन अर्थात् आत्म-सत्ता प्रकट करने की रुचि से प्रभु की तत्त्व सम्पत्ति रूपी प्रभुता का अवलोकन करना।

(६) समभिरूढ़ नय की अपेक्षा से प्रभु दर्शन अर्थात् केवल ज्ञान, केवल-दर्शन की प्राप्ति।

(७) एवं-भूत नय की अपेक्षा से प्रभु-दर्शन अर्थात् जीव जब अपनी शुद्ध सत्ता को प्रकट करता है और पूर्ण शुद्ध और सिद्ध होता है वह।

श्री अरिहन्त परमात्मा के दर्शन रूप निमित्त से ही आत्मा की सत्तागत शक्तियों का आविर्भाव होता है, उसके अतिरिक्त नहीं होता।

श्री अरिहन्त परमात्मा का दर्शन अर्थात् साक्षात् श्री अरिहन्त परमात्मा के दर्शन में उत्कृष्ट कारण रूप श्री जिन-शासन अथवा साक्षात् आत्म-दर्शन में उपादान कारणभूत सम्यग्-दर्शन।

प्रभु-दर्शन सुख-संपदा, प्रभु-दर्शन नव निद्ध।
प्रभु-दर्शन थी पामिये, सकल पदारथ सिद्ध ।।
दर्शनं देव देवस्य, दर्शनं पाप नाशनम्।
दर्शनं स्वर्ग सोपानं, दर्शनं मोक्षसाधनम् ।।

यह दोहा और श्लोक दोनों प्रभु-दर्शन के अगाध सामर्थ्य का प्रतिपादन करते हैं।

यदि 'दर्शन' में 'प्रभु-दर्शन' ही हो तो इस दोहों और श्लोक में जिस फल की प्राप्ति का विधान है वह सत्य ठहरता है।

जैसे स्वच्छ दर्पण अपना चेहरा जैसा है वैसा दर्शन कराता है, उसी प्रकार से प्रभु का दर्शन अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन कराता है।

जिस प्रकार दर्पण अपना कर्त्तव्य पूर्ण करता है। उसी प्रकार से प्रभु दर्शन भी स्व-धर्म पूर्ण करता है और उसका प्रारम्भ प्रभु-पूजा रूपी प्रीति-अनुष्ठान से होता है।

'दर्शन' शब्द के विविध अर्थों एवं नयों की अपेक्षा से 'दर्शन' का विचार करने से हम किस धरातल पर हैं, किस तरह का प्रभु-दर्शन करते हैं और किस तरह का प्रभु-दर्शन करना चाहिये उसका यथार्थ ध्यान आता है जिससे आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त होती है। उससे दर्शन-शुद्धि में वृद्धि होती है, जो बढ़ते-बढ़ते प्रभु-तुल्य स्वात्मा के दर्शन में परिणत हो जाता है और उससे आत्मा का परमात्म-मिलन हो जाता है।

श्री अरिहन्त परमात्मा के असीम उपकार

☐

तारणहार श्री तीर्थंकर परमात्मा प्रकृष्ट पुण्य के निधान होते हैं जिस पुण्य के प्रभाव से जघन्य से जघन्य कोटि-कोटि देव, देवेन्द्र, दानवेन्द्र और मानवेन्द्र उनकी उत्कृष्ट कोटि की पूजा, सेवा और भक्ति करने में गौरव का अनुभव करते हैं, अपने तन, मन, धन और जीवन की कृतार्थता समझते हैं।

परन्तु प्रश्न उठता है कि इस प्रकार का प्रकृष्ट कोटि का पुन्य उन्होंने किस प्रकार उपार्जित किया होगा तनिक आगे बढ़ कर सोचने से तुरन्त उसका समाधान भी हो जाता है।

प्रकृष्ट परार्थ-परायणता

सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु आदि के जितने प्रकट-अप्रकट उपकार हैं, उनसे अनन्त गुने प्रकट-अप्रकट उपकार जिनके हैं, उन श्री तीर्थंकर परमात्मा का आत्म-द्रव्य विशिष्ट कोटि का दलदार होता है। गेहूँ के समस्त दानों में विशिष्ट दलदार दाना अलग निकल आता है, उसी तरह से विश्व की समस्त आत्माओं में विशिष्ट आत्म-दलदार श्री तीर्थंकर परमात्मा की आत्मा अलग निकल आती है।

विशिष्ट प्रकार का यह आत्म-दल उन्हें उत्कृष्ट कोटि के परमार्थ में लगाकर प्रकृप्ट पुण्य के स्वामी बनाता है।

उत्कृष्ट प्रकार के परमार्थ का स्वरूप

माता को अपनी सन्तान का दुःख देखकर जो व्यथा होती है चिन्ता होती है उससे अनन्त गुनी व्यथा एवं चिन्ता श्री तीर्थंकर परमात्मा को तीन लोकों के प्राणियों की वेदना देखकर होती है। इससे उनका हृदय दया के सागर का स्वरूप धारण करता है और वे वेदना की उत्पत्ति के कारणों की खोज में अन्तर तल में गहरी डुबकी लगाते हैं। अपनी समग्रता विलो कर वे इस वेदना के कारण रूप मक्खन को प्राप्त करते हैं।

यह मक्खन अर्थात् तीनों लोकों के प्राणियों के सब प्रकार के दुःखों का मूल कारण कर्म होना ही सत्य ।

इस सत्य की प्राप्ति के पश्चात् वे करुणा-सागर घड़ी भर के लिये भी शान्त नहीं बैठते। वे उन कर्मों का समूल उच्छेद करने की उत्कृष्ट विचार-धारा में सतत अग्रसर होते हैं।

तीनों लोकों के समस्त प्राणियों को स्व-दया के विषयभूत बनाने वाले श्री तीर्थंकर परमात्मा की आत्मा को अब रह-रहकर यही प्रश्न स्पर्श करता है कि तीन लोकों के समस्त प्राणियों को त्राहि-त्राहि कराने वाले इन कर्मों के सिकंजे में से किस प्रकार छुड़ाया जाये ?

इस गम्भीर प्रश्न को वे परम दयालु अपना प्राण-प्रश्न बना कर अपने समस्त प्राणों को उसमें रमाते है, अपने रक्त के प्रत्येक बिन्दु को उससे रंगते हैं जिससे श्री तीर्थकर परमात्मा के रूप में अपने भव से पूर्व तीसरे भव में उक्त गम्भीर प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो जाता है कि यदि विश्व के समस्त प्राणी श्री जिन-शाहत के रसिक बनें और श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा निर्दिष्ट राह पर चलें तो वे कर्म के ससस्त बन्धनों से मुक्त होकर आधि, व्याधि एवं उपाधि के समस्त दुःखों से भी अवश्य मुक्त हो जागेयें।

हृदय रोमांचकारी इस लत्तर के पश्चात् उन परम दयालु प्रभु के हृदय में यह प्रश्न उठता है कि समस्त जीवों को परमात्म-शासन-रसिक किस प्रकार बनाया जाये ?

चुनौती स्वरूप इस प्रश्न से भी वे पीछे नहीं हटते परन्तु कर्म-सत्ता के समस्त गात्रों को शिथिल करने वाली परमोत्कृष्ट भावना का नाभि-नाद करते हैं।

"जो होवे मुझ शक्ति इसी,
सवि जीव करूँ शासन रूपी।"

श्री तीर्थंकर परमात्मा के विशिष्ट दलदार आत्मा के इस परम संकल्प का त्रिभुवन पर एक छत्र साम्राज्य है; है और है।

इस परम संकल्प अर्थात् उत्कृष्ट भाव-दया से अपनी समग्रता को अत्यन्त भाव पूर्ण बनाने वाले वे परम दयालु वीस स्थानक तप की त्रिविध से, उच्च परिणाम से आराधना करके त्रिभुवन-तारणहार श्री तीर्थंकर-नाम-कर्म की निकाचना करते हैं।

तनिक सोचिये; कितने उत्कृष्ट परार्थ में परम दयालु परमात्मा की आत्मा ने अपनी समग्रता को प्रयुक्त करके भावना भाई—"सवि करूँ शासन रसी" की! वहाँ भव्य अथवा अभव्य का भेद ही नहीं रखा, न पापी अथवा पुण्यशाली का, न रंक अथवा राजा का, न निर्धन अथवा धनवान का, न ऊँच अथवा नीच का, न क्षुद्र अथवा सुपात्र का, न किसी गति अथवा जाति का भेद रखा।

बस, केवल एक ही भावना भाई कि "तीन लोकों के समस्त जीव मेरे आत्म-बन्धु हैं, उनका दुःख मेरा दुःख है और उनके सुख में ही मेरा सुख है।" अतः यदि मुझ में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाये तो समस्त प्राणियों को परमात्म शासन के रसिक बनाकर इन कर्मों के भयानक बन्धनों से मुक्त कराऊँ।"

यह है प्रकृष्ट परार्थ-परायणता का उत्कृष्ट स्वरूप।

उन परम दयालु परमात्मा की आत्मा इतनी उत्कृष्ट परार्थ-परायणता अर्थात् भाव-दया को केवल पाँच-पच्चीस घण्टों, माह अथवा वर्षों तक ही नहीं रखते, परन्तु निरन्तर तीन भव के समग्र काल को उक्त भाव-दया के द्वारा रंग देते हैं, जिससे चरम भव में उनका प्रत्येक रोम-रोम दया रूपी गंगा

का स्वरूप धारण करके विश्व के जीवों को पावन करने का स्वधर्म पूर्ण करते हैं।

एक आत्मा को दीया गया शुभ भाव भी उत्कृष्ट पुण्य के रूप में परिणत होता है तो तीन भुवन के समस्त जीवों को दिया गया शुभ भाव-उत्कृष्ट दया-भाव परमोत्कृष्ट पुण्य का पिता बने यह स्वाभाविक है।

अतः सम्पूर्ण विश्व-वत्सल श्री तीर्थंकर परमात्मा प्रकृष्ट-पुण्य के निधान हैं—यह विधान अक्षरशः सत्य होने की बात स्वीकार करनी ही पड़ती है।

स्वार्थ परायणता तो विश्व में चारों ओर फैली हुई प्रतीत होती है। अधिकतर जीव तो स्वार्थ को केन्द्र में रखकर ही जीवन-यापन कर रहे हैं। अपना स्वार्थ तनिक भी टकराये तो लाल-पीले होने वाले जीवों की पृथ्वी पर कमी नहीं है।

समस्त जीवराशि के हित का द्रोह कराने वाले इस स्वार्थ को देश-निकाला देने की दैवी-शक्ति परार्थ-परायणता के परम शिखर पर सुशोभित श्री तीर्थंकर परमात्मा की भाव-पूर्वक की जाने वाली भक्ति से ही प्रकट होती है।

इस विश्व में परमार्थ की जो गंगा प्रवाहित है उसके जनक श्री तीर्थंकर परमात्मा हैं, उनकी उत्कृष्ट भाव-दया है, सकल जीव-लोक को उद्धार करने की परम करुणा है, जीव मात्र को परम स्नेह का दान करने का महा गान है।

स्वार्थ के विचार में ही लीन व्यक्ति को पर-हित का विचार, जीवों के कल्याण का विचार अपने स्वार्थ-पूर्ण विचार के प्रति सख्त घृणा उत्पन्न होने पर ही आता है।

यह उपकारी घृणा श्री तीर्थंकर परमात्मा और उनके वचन आदि वास्तव में प्रिय लगने पर ही उत्पन्न होती है।

अतः कोई शुभ भावना को सस्ती मान लेने की भंयकर भूल न करे।

तो क्या केवल भावना से ही कार्य सिद्ध हो जाता है ?

जिनकी भावना शुद्ध है वे इस मतलब का प्रश्न नहीं करते। इस मतलब के प्रश्न वे ही पूछते हैं जो शुभ भावना के अप्रतिम सामर्थ्य से अज्ञात हैं।

यदि आप शुभ भावना के सामर्थ्य का अनुभव करना चाहो तो केवल तीन दिन तक आप किसी भी एक जीव को शुभ भावना का विषय बना कर यह अनुभव कर सकते हैं।

सघन अन्धकार को नष्ट करने में जो कार्य प्रकाश-किरण करती है, वही कार्य केवल स्वार्थ के विचार में लुब्ध चित्त में परार्थ-परायणता की किरण करती है।

अतः यह कार्य अधिकतम दुष्कर माना गया है।

इस संसार में सर्वथा सस्ती और सर्वथा महंगी यदि कोई वस्तु हो तो वह भाव ही है। उसके द्वारा जिसका चित्त पूर्ण हो, जीवन रंगा हुआ हो उसका कौनसा शुभ कार्य अपूर्ण रह सकता है ?

शुभ भाव से सुरभित व्यक्ति का जीवन के केन्द्रवर्ती बल भी यह भाव ही बन जाता है, अतः वह उसे अशुभ भाव, अशुभ वाणी एवं अशुभ व्यवहार की ओर जाने नहीं देता और कदाचित् कोई व्यक्ति यदि उस दिशा में फिसल जाता है तो भी वह उसे दूसरे ही क्षण अपने नियन्त्रण में कर लेता है।

अतः शुभ भावना रखने से कार्य सिद्ध हो अथवा न हो—यह प्रश्न करने की अपेक्षा शुभ-भावना-युक्त, मित्रता आदि भाव-युक्त जीवन यापन करने का शुभ प्रारम्भ करना उस यही प्रश्न का यथार्थ उत्तर प्राप्त करने का राज-मार्ग है।

देखिये, स्वयं श्री तीर्थंकर परमात्मा की आत्माएं भी उत्कृष्ट प्रकार की भावदया से भावित होकर और उसी के अचिन्त्य सामर्थ्य से प्रेरित होकर तदनुरूप तपोमय जीवन में अग्रसर होती है, क्योंकि इस भाव-दया का यह स्वभाव है कि वह उसके अनन्य उपासक को पर-भाव की ओर जाने से रोकती है।

मित्रता आदि शुभ भावों की यह तासीर है कि इसके द्वारा जिसका चित्त सुरभित होता है उसके चित्त पर पौद्गलिक सुख और पौद्गलिक सम्बन्धों का राग प्रभुत्व नहीं जमा सकता।

स्पर्शित शुभ भाव उस प्रकार की शुभ करणी में परिणत होकर ही रहता है, अतः ऐसा भय अथवा भ्रम रखने की आवश्यकता नहीं है कि केवल शुभ भावना से कार्य सिद्ध हो सकता है क्या ?

श्री तीर्थंकर परमात्मा के शासन के प्रेमी पुण्यात्माओं को यदि यह प्रश्न स्पर्श करे तो वह एक अचम्भा माना जायेगा; क्योंकि स्वयं श्री तीर्थंकर परमात्मा उस उत्कृष्ट शुभ भाव, प्रकृष्ट परार्थ परायणता और सर्वोत्तम भाव दया के पवित्रतम प्रमाण स्वरूप हैं।

समस्त श्रेष्ठता को अपनाने, प्रकट करने का उत्तम वीज उत्कृष्ट शुभ भाव है, उसमें दो मत नहीं हैं।

स्व साधना द्वारा जगत को मूक सन्देश

जिस जन्म में श्री तीर्थंकर परमात्मा सर्वज्ञ, अरिहन्त, तीर्थंकर और समस्त कर्म-बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर सिद्ध स्वरूपी बनने वाले होते हैं, उस जन्म में जब वे माता के गर्भ में पधारते हैं तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि-ज्ञान-रूप विशिष्ट ज्ञान के धारक होते हैं।

इस विशिष्ट ज्ञान के प्रभाव से वे उसी भव में अपनी मुक्ति होने की बात जानते हुए भी दुश्चर संयम अंगीकार करके, विशिद्ध रूप से पंचाचार का पालन करके, अष्ट प्रवचन-माता का जतन करके, उग्र तपस्या करके, भयंकर परिषह-उपसर्गों को धीरता एवं वीरता से सहन करके, निश्चय ध्यान करते-करते जब तक उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक की छद्मावस्था में भी विश्व को मूक सन्देश देते ही रहते हैं कि "स्वकृत कर्मों के साथ संघर्ष करके उन्हें पराजित किये बिना, संयम का सुविशुद्ध पालन किये बिना, उग्र तपस्या का सेवन किये बिना और शुक्ल ध्यान की धारा पर आरूढ़ हुए बिना केवल ज्ञान हस्तगत नहीं किया जा सकता। अतः जिसे इन कर्म-शत्रुओं के पंजे में से मुक्ति प्राप्त करनी हो उसे विवेक रूपी सराण पर संयम रूपी

शस्त्र को तीक्ष्ण बनाकर धैर्य रूपी ढाल धारण करके कर्म शत्रुओं के विरुद्ध
प्रकट युद्ध छेड़ना ही रहा।"

संग्राम-भूमि में शत्रु से संघर्ष करते सैनिक में जो शूरवीरता होती है उससे भी कहीं अधिक शूरवीरता कर्म रूपी शत्रुओं को पराजित करने के लिये चाहिए।

ऐसी शूरता परम वीर्यवान परमात्मा की भक्ति एवं सर्व जीवों की मैत्री में से उत्पन्न होती है, परन्तु वह शूरता विषय-कषाय के सेवन से प्रकट नहीं होती।

श्री तीर्थंकर परमात्मा की आत्मा के मूक सन्देश का सार यह है कि "जड़ के चेतन पर स्वामित्व का नाश करने के लिए नख शिख चेतनमय बनो, आत्म-उपयोगी बनो और उसके लिए आवश्यक तप, जप, संयम, स्वाध्याय और ध्यान-मग्न बनो।"

विश्वोपकारी इस मूक सन्देश का वे प्रथम स्वयं पालन करके सर्वोत्कृष्ट साधना का आदर्श सबके समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

चार घाती कर्मों का स्वात्म बल से क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करने पर श्री अरिहन्त परमात्मा विश्व के प्राणियों को तारणहार तीर्थ की स्थापना करते हैं, अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका स्वरूप चतुर्विध श्री सघ की विधिवत् स्थापना करते हैं।

तीर्थ की स्थापना करने से पूर्व वे परम दयालु परमात्मा 'नमो तित्थस्स' पूर्वक समवसरण में बिराजमान होते हैं। यह तथ्य इस सत्य का द्योतक है कि तीर्थ के आलम्बन के बिना कोई भी व्यक्ति संसार-सागर को पार नहीं कर सकता। अतः स्वयं श्री तीर्थंकर परमात्मा भी तारणहार तीर्थ के उपकार को नमस्कार करते हैं।

तारणहार तीर्थ की स्थापना के पश्चात श्री अरिहन्त परमात्मा त्रिपदी (उवन्नेइवा, विगमेइवा, धुवेइवा) कहते हैं, जिसे बीज-बुद्धि के निधान गणधर भगवंत द्वादशांगी रूप सूत्रों में गूंथते हैं, जिसमें विश्व के समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन होता है, जिससे भव्य आत्मा भवसागर पार करके अजर-अमर पद को प्राप्त करती है।

इस प्रकार श्री अरिहन्त परमात्मा जीवों को परमात्म-शासन के रसिक बनाने के अपने संकल्प को साकार करते हैं; परन्तु इतने से ही न रुककर वे परम दयालु अष्ट महा प्रातिहार्य युक्त समवसरण में विराज कर पैंतीस गुणों से युक्त वाणी से बारह पर्षदाओं के समक्ष अमृतमयी धर्म-देशना देते हैं; जिसके पान से, श्रवण से लघुकर्मी आत्माओं के हृदय में अपूर्व आत्म-स्नेह उत्पन्न होता है, भेद के बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है और विशुद्ध आत्म-रति रूपी सम्यक्त्व का स्पर्श होता है।

पाषाण-हृदयी मनुष्य को भी पानी-पानी कर डालने की अमोघ शक्ति-युक्त यह वाणी प्राणियों को अपनी माता के वात्सल्य से भी अधिक मोहक एवं मधुर लगती है। अर्थात् शर्करा की मधुरता की तरह इस वाणी रूपी सुधा का पान करने वाले मनुष्यों को अनन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र-वीर्य एवं तपोमय आत्मा मधुर लगने लगती है, संसार कटु लगने लगता है।

अत: उनमें से अनेक व्यक्तियों का देहा-ध्यास छूट जाता है, शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्राप्ति की प्यास बढ़ जाती है, अत: वे शुद्ध स्वरूप की साधना में सक्रिय हो जाते हैं; कुछ मनुष्य देश-विरतिधर हो जाते हैं, कुछ सर्व विरतिधर हो जाते हैं और कुछ मनुष्य शुक्ल ध्यान की धारा पर आरूढ़ होकर, क्षपक श्रेणी मांड कर घाती कर्मों से भयानक संघर्ष करके, उन्हें परास्त करके सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो जाते हैं और शेष अघाती कर्मों का भी क्षय करके शुद्ध, बुद्ध, पूर्ण और हो मुक्त जाते हैं।

इस प्रकार सर्व-प्राणी-हित-चिन्तक श्री अरिहन्त परमात्मा आत्म-स्वर्ण को शुद्ध करके उसमें निहित परम विशुद्ध परमात्म-स्वरूप को प्रकट करने की आध्यात्मिक प्रक्रिया का ज्ञान सिखाते हैं, वे जीव को शिव बनाने की सर्वोत्तम कला का दान करते हैं और संत, महन्त एवं भगवंत बनने की भव्यातिभव्य साधना प्रदर्शित करके विश्व पर असीम उपकार करते हैं।

जन्म से ही चार अतिशय युक्त श्री अरिहन्त परमात्मा की वाणी बारह पर्षदाओं में बिराजमान देव, दानव, मानव, और तिर्यंच अपनी-अपनी भाषा में सुनकर अनहद रोमांचित हो उठते हैं। झूले में रोते बालक को उसकी माता

जब झुलाती हुई गीत सुनाती है तब वह चुप हो जाता है, रोना बन्द करके मुसकराने लगता है, खेलने लगता है। उसी प्रकार से श्री अरिहन्त परमात्मा की परम वात्सल्यमय वाणी सुनकर जीवों को अपार सुख-शाता का अनुभव होता है, तत्कालीन विषय-कषाय के आक्रमण रुक जाते हैं और स्थूल एवं सूक्ष्म मन में अपूर्व हर्ष उमड़ता है। बस, यह वाणी सुनते ही रहें ऐसा उत्कट भाव उस समय वहाँ स्थित प्राणियों के मन में ज्योत्सना की तरह छा जाता है।

निरवधि वात्सल्य के उदधि के समान श्री अरिहन्त परमात्मा के प्रत्येक रोम में से टपकते अपार जीव-वात्सल्य के सहज प्रभाव से समवसरण बिराजमान हिंसक प्राणी अर्थात् बाघ और बकरी, मोर और साँप, सिंह और हिरन भी अपनी जातिगत शत्रुता भूलकर परस्पर मैत्री-भाव रखते हैं। उनमें एक दूसरे को मारने की भावना ही नहीं आती। इन सब विकृत भावों का समस्त सामर्थ्य श्री अरिहन्त परमात्मा के परम वात्सल्यमय सामर्थ्य के समक्ष निष्प्राण हो जाता है, जैसे मध्यान्ह के सूर्य के समक्ष तिमिर का सामर्थ्य निष्प्राण हो जाता है।

परम तारणहार श्री महावीर परमात्मा की प्रशम-रस-मग्न मुख-मुद्रा एवं अपार वात्सल्यमयी वाणी, 'बुज्झ, बुज्झ चण्डकोसिय' के प्रभाव से दृष्टि-विष युक्त चण्डकौशिक नाग तत्काल शान्त होकर समता भाव से चींटियों के डंक सहन करता हुआ देव गति में गया, वह भी क्रोधादि कषायों का परमात्म-स्नेह के समक्ष कोई जोर नहीं चलता उस तथ्य का समर्थन करता है।

जिन्हें 'स्वयंभूरमण-स्पर्द्धि-करुणा-रस वारिणा' कह कर महर्षियों ने जिनकी स्तवना की है, जिनका 'महामोह-विजेता' कह कर स्मरण किया है, जगत्-त्रयाधार' कह कर जिनकी पूजा की है, उन श्री अरिहन्त परमात्मा के द्वारा, उनकी उत्कृष्ट-भाव-दया के द्वारा, उनके अप्रतिहत शासन के द्वारा यह विश्व सौभाग्यशाली है।

देह की दिव्यता

निरन्तर तीन तीन भव, सकल जीव-राशि के परम हित की सर्वोच्च साधना को सार्थक करने वाले, समस्त जीव-राशि के परम हित को अपने

जीवन में सर्वोच्च स्थान प्रदान करने वाले श्री अरिहन्त परमात्मा की सातों धातु चरम भव में उस परम जीव-स्नेह के द्वारा ऐसी हो जाती हैं कि उनकी दिव्य देह में प्रवाहित रक्त लाल न रह कर दूध तुल्य श्वेत हो जाता है।

रक्त कभी दूध जैसा श्वेत हो सकता है ? अवश्य हो सकता है।

तनिक सोचो, अपनी सन्तान के प्रति वात्सल्य भावना के प्रभाव से माता के स्तन में प्रवाहित लाल रंग का रक्त दूध जैसा श्वेत हो जाता है और वह दूध के ही गुण-धर्म धारण करता है, तो समस्त प्राणी मात्र पर विमल वात्सल्य प्रवाहित करने वाली जगज्जननी भाव-माता-परमात्मा श्री अरिहन्तदेव के सम्पूर्ण शरीर का रक्त दूध के समान हो तो आश्चर्य ही क्या है ?

आश्चर्य तो यह है कि मेरा-तेरा, छोटा-बड़ा अथवा ऊँच-नीच आदि के भेद की वज्र के समान दीवारों को धाराशायी करके समस्त जीवों पर समान वात्सल्य-भाव रखना। जिस विमल वात्सल्य के स्रोत में स्नान करके पतित भी पावन हो जाता है, पापी भी पापहीन हो जाता है, कर्म-श्रंखला से युक्त व्यक्ति भी कर्म-श्रंखला से मुक्त हो जाता है, सदेही विदेही हो जाता है और जन्म-मरण की परम्पराओं से जकड़ा हुआ प्राणी भी जन्म-मरण पर विजयी हो जाता है। यह क्या श्री अरिहन्त परमात्मा का कम उपकार है ? उनका असीम उपकार है, सब उपकारियों को नीचा दिखाने वाला उपकार है और जन्म-दातृ माता के उपकार को भी निस्तेज करने वाला असाधारण, अनन्य, अद्वितीय उपकार है।

शास्त्र फरमाते हैं कि परम उपकारी श्री अरिहन्त परमात्मा के दिव्य देह की रचना इस विश्व में स्थित उत्कृष्ट शान्त भाव से सुवासित परमाणुओं के द्वारा होती है।

ये परमाणु केवल उनकी ओर ही आकृष्ट होने का कारण उनका उत्कृष्ट पुण्य है। वे उत्कृष्ट भाव-दया के कारण इतने उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करते हैं।

अतः उनके देह की कान्ति एवं इन्द्र के देह की कान्ति में चाँदनी रात और अमावस की रात जितना अन्तर होता है।

श्री अरिहन्त परमात्मा का कान्तिमय दिव्य देह प्रस्वेद-रहित होता है, श्वासोश्वास कमल के समान सुगन्धित होता है और उनके आहार-निहार की प्रक्रिया चर्म-चक्षुओं से परे होती है।

केवल श्री अरिहन्त परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में किसी भी समय में प्रकट नहीं होने वाले ऐसे अद्वितीय गुण, उनके अंगभूत विश्व-वात्सल्य के परिपाक स्वरूप हैं।

इस प्रकार की अद्भुत प्रभुता के पुनीत दर्शन, प्रकृष्ट पुण्य-निधान श्री अरिहन्त परमात्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ हो सकते हैं ? इस प्रकार की अलौकिक स्थिति के दर्शन मात्र से भी कितने ही जीव सुमार्ग-गामी होते हैं।

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होने के पश्चात् भी श्री अरिहन्त परमात्मा जीवों को स्वार्थीय-प्रेम से छुड़वा कर, परमार्थ-रसिक बनाने वाले धर्म का उपदेश देते हैं। इतना ही नहीं, परन्तु उन परम कृपालु परमात्मा के पुनीत चरण-कमल जिस धरा का स्पर्श करते हैं, वह धरा भी तारणहार तीर्थ की क्षमता से युक्त हो जाती है, और वह वातावरण भी विशुद्ध आत्म-स्नेह से सुवाहित होकर विश्व में प्रवाहित अशुभ भावों का बल कुण्ठित करता है।

असीम करुणा-निधान श्री अरिहन्त परमात्मा जिस क्षेत्र में विचरते हैं उस क्षेत्र में और उसके आसपास के क्षेत्र में सैंकड़ों मील तक अतिवृष्टि का प्रकोप नहीं होता, अनावृष्टि से दुर्भिक्ष नहीं पड़ता; टिड्डी, चूहों आदि के उपद्रव नहीं होते; रोगों के परमाणु प्रविष्ट नहीं होते और कोई आक्रमण नहीं होता। वहाँ सुख-शान्ति एवं आनन्द-मंगल का वातावरण छा जाता है।

इस प्रकार परम मंगलमय श्री अरिहन्त परमात्मा के उपकारों की कोई सीमा नहीं है।

चरम तीर्थपति श्री महावीर स्वामी का निर्वाण हुए २५११ वर्ष होने पर भी उनके द्वारा प्रकाशित सर्व कल्याणकारी धर्म की आज भी अनेक पुण्यात्मा सविधि एवं सम्मानपूर्वक आराधना कर रहे हैं, वह उनकी पाट-परम्परा को स्वामि-भक्ति पूर्वक उज्ज्वल करने वाले समर्थ आचार्य देव आदि भगवंतों का उपकारी प्रभाव भुलाया नहीं जा सकता।

इस प्रकार श्री अरिहन्त परमात्मा द्वारा फरमाया हुआ धर्म हम तक पहुँचा और अज्ञानांधकार में भटकते हम सबको सद्गुरुओं ने सुमार्ग बताया, भव-स्वरूप की भयंकरता का भान करा कर, भाव की भद्रंकरता का ज्ञान कराया और हमें स्वभाव सम्मुख बनाया।

जिनके च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवल-ज्ञान और निर्वाण ये पाँचों कल्याणकों के रूप में विश्व-विख्यात हैं, उन श्री अरिहन्त परमात्मा का असीम वात्सल्य सचमुच अवर्णनीय है।

जिनके च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवल-ज्ञान और निर्वाण के समय निसर्ग का समग्र तंत्र अनहद आल्हाद का अनुभव करता है, नारकीय जीवों को भी क्षण भर के लिये शान्ति एवं सुख का अनुभव होता है वह उनके अगाध विश्व-वात्सल्य का ज्वलंत उदाहरण है।

इसी प्रकार से अष्ट महाप्रातिहार्य-युक्त समवसरण उस निसर्ग की उन्हें श्रेष्ठ श्रद्धांजलि है।

वृक्ष उन्हें प्रणाम करते हैं, पक्षीगण उन्हें प्रदक्षिणा देकर नत-मस्तक होते हैं। उसके मूल में भी उनका असीम प्राणी-वात्सल्य ही है।

श्री अरिहन्त परमात्मा एक ही ऐसे विश्वेश्वर हैं कि जो समस्त जीवों को स्व-तुल्य समझते हैं। उस भाव का त्रिभुवन-स्वामित्व इसलिये ही ठोस

है कि उसको चुनौती देने वाला भाव अन्य किसी भी मुल्क में होता ही नहीं ।

परम तारणहार यह भाव सचमुच अमूल्य है; अतः उत्कृष्ट भाव एवं अत्यन्त मूल्यवान पदार्थों से श्री अरिहन्त परमात्मा की भक्ति करने में तीनों लोक के प्राणी गौरव समझते हैं ।

भव को भाव प्रदान करने की मिथ्या मति का ध्वंस इस भाव को भजने से होता है ।

भाव को भजने के लिये श्री अरिहन्त परमात्मा की आज्ञा का त्रिविध से पालन करना ही पड़ता है ।

यह आज्ञा नियमा कल्याणकारी है, सर्व कर्म-क्षयकारी है ।

अरिहन्त की उपासना

□

प्रभु नाम की महिमा

□

एक ही व्यक्ति के एक से अधिक नाम जब सुनने को मिलते हैं तब हृदय में प्रश्न उठता है कि व्यक्ति एक और उसके अनेक नाम क्यों ?

एक ही व्यक्ति के अनेक नामों के पीछे कुछ न कुछ रहस्य छिपा हुआ होता है, कोई न कोई विशेष उद्देश्य होता है ।

व्यक्ति के अनेक गुणों, विविध शक्तियों और उसके जीवन में घटी असाधारण घटनाओं का उसके विविध नामों से विशेष सम्बन्ध होता है।

यहाँ हम श्री अरिहन्त परमात्मा के विविध नामों पर विचार करेंगे, अतः उस तथ्य को लक्ष्य में रखकर हम आगे बढ़ेंगे ।

श्री अरिहन्त परमात्मा अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परमेश्वर, परमात्मा, अनन्त गुणों के साक्षात् निधान, पूर्णता की प्रकट प्रतिमा, आत्मिक विकास के चरम शिखर........।

जिनकी आत्मा में किसी दोष का हजारवां अथवा लाखवां भाग भी नहीं होता । इस प्रकार के पूर्ण गुणी, पूर्ण ज्ञानी परमात्मा में निहित अनन्तानन्त गुणों, अक्षय शक्तियों और अप्रतिम ऐश्वर्य का परिचय उनके विविध नामों से प्राप्त होता है ।

परमात्मा तो अनामी एवं अकामी हैं, फिर भी विश्व उन्हें अनेक नामों से सम्बोधित करता है, उनकी सच्चे हृदय से प्रार्थना, पूजा, सेवा, भक्ति

करता है और संसार-सागर को पार करके शाश्वत-धाम की ओर प्रयाण करने का सत्त्व और सामर्थ्य प्राप्त करता है ।

यहाँ निर्दिष्ट अनेक अभिधान (नाम) परमात्मा के अलौकिक, विशिष्ट गुणों का सुन्दर परिचय देते हैं; उनके अद्वितीय, अनुपम, असाधारण एवं सर्वोत्कृष्ट व्यक्तित्व की तनिक झलक प्रस्तुत करते हैं । अन्यथा पूर्ण गुणी एवं पूर्ण ज्ञानी परमेश्वर परमात्मा की गुण-गरिमा का उचित वर्णन करना अथवा उनकी पूर्णता का यथार्थ परिचय देना अपने समान पामर एवं अल्पज्ञ व्यक्ति के लिये सर्वथा असम्भव बात है ।

कहा भी है कि—पूर्ण गुणी को पूर्ण गुणी ही जान सकता है; पूर्ण ज्ञानी को पूर्ण ज्ञानी ही पहचान सकता है ।

छोटे चम्मच से सागर का अगाध जल उलीचना अथवा छोटी पटरी से अनन्त आकाश को नापना जितना हास्यास्पद और असंभव कार्य है उतना ही असंभव एवं हास्यास्पद कार्य इस छोटी सी जिह्वा से अथवा स्याही-कलम से पूर्ण गुणी एवं पूर्ण ज्ञानी परमात्मा के गुणों का वर्णन करना है; फिर भी "शुभे यथाशक्ति यतितव्यम्" के अनुसार परमात्मा के गुणों का उनके पवित्र नामों का यथाशक्ति वर्णन करके हम अपना तन, मन और जीवन धन्य करें, कृतार्थ करें ।

"अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम"

इस पंक्ति के द्वारा पूर्वकालीन शास्त्रकार महर्षियों ने भी अपनी इस अल्पज्ञता को स्वीकार किया है, फिर स्वीकार करके भी वे रुके नहीं हैं— "त्वद् भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम्" गाकर परमात्मा की भक्ति की प्रशंसा की है और यह भक्ति ही आज मुझे आपका गुण-गान करने के लिये प्रेरित कर रही है—इस प्रकार की कृतज्ञता से वे भी परमात्मा के गुणों की स्तवना करते रहे हैं ।

यह बात पूर्णतः सत्य है । परम गुणवान परमात्मा के गुणों का वर्णन करने की जो भी शक्ति आज हमारे जीवन में जागृत हुई है वह भी उस परम

दयालू परमात्मा की कृपा के प्रभाव से ही जागृत हुई है। अतः उस शक्ति का उपयोग उस परम दयालु प्रभु के गुणों की महिमा गाने और उसके नामों की स्तवना करने में करें वही न्यायोचित होगा।

अतः उन परमात्मा की कृपा से यहाँ उनके विशिष्टतम गुण प्रदर्शित करने वाले उनके विविध नाम एवं उनके अर्थ प्रस्तुत कर सका हूँ। उन पर चिन्तन–मनन करने से परमात्मा की लोकोत्तमता का रोमांचक स्पर्श होता है और पूर्ण गुणवान परमात्मा के प्रति श्रद्धा, भक्ति, सम्मान एवं सत्कार में अत्यन्त वृद्धि होती है।

समस्त साधक पूर्ण गुणवान श्री अरिहन्त परमात्मा की पूर्ण भक्ति करके पूर्णत्व प्राप्त करके दुस्तर संसार को पार करके परम-पद को प्राप्त करें।

श्री अरिहन्त परमात्मा के विविध नाम

परमात्मा, परमेश्वर, परम परमेष्ठि, परमयोगी, परम ज्योतिस्वरूप, परमदेव, परम पुरुष, परम पदार्थ, प्रधान, प्रमाण, पर-मान, पुरुषोत्तम, पुरुष-सिंह, पुरुष वर पुण्डरिक, पुरुष वर गंध हस्ती, परमाप्त, परम कारुणिक, जिन, जिनेश्वर, जगदानन्द, जगत्-पिता, जगदीश्वर, जगदेवाधिदेव, जगन्नाथ, जगच्चक्षु, जिष्णु, लोकोत्तम, लोकनाथ, लोकहित-चिन्तक, लोक-प्रदीप, लोक-प्रद्योतकारी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, स्याद्वादी, सर्व तीर्थोपनिषद्, सर्व पाखण्डमोची, सर्व योग-रहस्य, सर्व प्रद, सर्व लब्धि-सम्पन्न, सौम्य, सर्व शक्त, सर्व देवमय, सर्व ध्यानमय, सर्व ज्ञानमय, सर्व तेजोमय, सर्व मंत्रमय, सर्व रहस्यमय।

निरामय, निःसंग, निःशंक, निर्भय, निस्तरंग, निष्कलंक, निरंजन।

अभय-दाता, दृष्टि-दाता, मुक्ति-दाता, मार्ग-दाता, बोधि-दाता, शरण-दाता, धर्म-दाता, धर्म-देशक, धर्म-नायक, धर्म-सारथी, हृषिकेश, अजर, अमर, अजेय, अचल. अत्यय, महादेव, शंकर, शिव, महेश्वर. महाव्रती, महा योगी, महात्मा, मृत्युंजय, मुक्ति-स्वरूप, मुक्तीश्वर।

जिन-जापक, तीर्थ-तारक, बुद्ध-बोधक, मुक्त-मोचक, त्रिकालविद्, पारंगत, तीर्थंकर, अरिहन्त, अरहन्त, अरूहन्त, केवली, चिदानन्दघन, भगवान्, विधि, विरंचि, विश्वम्भर, अघहर, अघमोचन, वीतराग, काल-पाश नाशी, सत्त्व-रजस्तमो, गुणातीत, अनन्त गुणी, सम्यक्-श्रद्धेय, सम्यग्-ध्येय, सम्यग्-शरण्य,

अचिन्त्य-चिन्तामणि, अकाम-कामधेनु और असंकल्पित कल्पद्रुम आदि विविध नामों से परमात्मा श्री अरिहन्त देव का परिचय मिलता है।

विविध नामों के अर्थ

परमात्मा = श्रेष्ठतम है जिनकी आत्मा वे।

परमेश्वर = परम ऐश्वर्यवान्।

परम परमेष्ठि = सर्वोच्च स्थान पर स्थित परमेष्ठि भगवतों में श्रेष्ठ।

परम योगी = योग-साधक योगी पुरुषों में श्रेष्ठ।

परम ज्योति स्वरूप = श्रेष्ठ केवल-ज्ञान की ज्योति वाले।

परम देव = परम कोटि के देवत्व के धारक श्रेष्ठ देव।

परम पुरुष = त्रिलोकों के समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ।

परम पदार्थ = श्रेष्ठतम पदार्थ।

प्रधान = मुख्य।

प्रमाण = प्रमाण भूत।

परमान = उत्कृष्ट सम्मान के पात्र।

पुरुषोत्तम = समस्त पुरुषों में उत्तम।

पुरुषसिंह = परिपूर्ण सिंह की वृत्ति वाले, अपने बल से ही कर्म रूपी शत्रुओं के संहारक।

पुरुषवर पुण्ड़रिक = पुरुषों में श्रेष्ठ कमल के समान। जिस प्रकार कमल कीचड़ और जल से उत्पन्न होने पर भी कीचड़ और जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार से कर्म रूपी कीचड़ और भोग रूपी जल से उनकी वृद्धि होने पर भी वे उनसे अलिप्त रहते हैं।

पुरुषवर गंध हस्ती – समस्त हाथियों में गंध हस्ती अपनी निराली गंध के कारण भिन्न प्रतीत होता है, उस प्रकार से सब प्रकार के पुरुषों में निराली वृत्ति वाले।

परमाप्त = आप्त पुरुषों में श्रेष्ठ, परम आत्मीय।

परम कारुणिक = करुणानिधि पुरुषों में श्रेष्ठ।

जिन = राग-द्वेष के विजेता।

जिनेश्वर = समस्त केवली भगवन्तों से श्रेष्ठ, क्योंकि सामान्य केवली भगवंतों की अपेक्षा अनन्त गुणा उपकार श्री अरिहंत परमात्मा करते हैं।

जगदानंद = जगत् को आनन्द प्रदान करने वाले। च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवल-ज्ञान एवं निर्वाण कल्याणकों के द्वारा विश्व के समस्त जीवों को आनन्द प्रदान करने वाले। अपने परम ऐश्वर्य द्वारा आनन्द प्रदान करने वाले।

जगत्-पिता = पिता की तरह विश्व के समस्त जीवों की रक्षा एवं पालन-पोषण करने वाले।

जगदीश्वर = जगत् के सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्यवान्. सामर्थ्यशाली।

जगन्नाथ = जगत् को सनाथ करने वाले।

जगच्चक्षु = विश्व की दिव्य आँख।

लोकनाथ = त्रिलोक के नाथ।

लोक-हित चिन्तक = लोक में स्थित समस्त जीवों के उत्कृष्ट हित की रक्षा करने वाले।

लोक-प्रदीप = लोक में स्थित समस्त पदार्थों का यथार्थ दर्शन कराने में दीपक तुल्य। राग, द्वेष एवं मोह के अन्धकार को नष्ट कराने वाले भाव-दीपक।

लोक प्रद्योतकारी = लोक के समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का केवल-ज्ञान द्वारा प्रकाशन कराने वाले; लोक को भाव प्रकाशमय करने वाले।

सर्वज्ञ = सर्वकालिक समस्त पदार्थों के समस्त भावों के ज्ञाता ।

सर्वदर्शी = सर्वकालिक समस्त पदार्थों के समस्त भावों को हाथ की रेखाओं के समान देखने वाले ।

स्याद्वादी = अनेकान्तवाद के प्ररूपक ।

सर्वतीर्थोपनिषद = समस्त दर्शनों के रहस्य भूत ।

सर्वपाखंड़मोची = समस्त पाखंड़ियों का गर्व चूर करने वाले ।

सर्वयोगरहस्य = समस्त प्रकार के योगों के रहस्य भूत ।

सर्वप्रद = मनोवांछित सब पदार्थों को देने वाले ।

सर्वलब्धिसम्पन्न = समस्त प्रकार की लब्धियों से युक्त ।

सौम्य = चन्द्र तुल्य सौम्य मुख-मुद्रा वाले ।

सर्वगत = केवली समुद्घाती के समय समस्त लोकों में व्याप्त अथवा केवल-ज्ञान द्वारा सर्वत्र व्याप्त ।

सर्वदेवमय = समस्त प्रकार के देवत्वमय ।

सर्वध्यानमय = समस्त प्रकार के ध्यान वाले ।

सर्वज्ञानमय = समस्त प्रकार के ज्ञान वाले ।

सर्वतेजोमय = समस्त प्रकार के तेज वाले ।

सर्वमन्त्रमय = समस्त प्रकार के मन्त्र-युक्त ।

सर्वरहस्य = समस्त प्रकार के रहस्यमय ।

निरामय = रोग-रहित ।

निःसंग = संग-रहित ।

निःशंक = पूर्ण ज्ञानी होने के कारण शंका रहित ।

निर्भय = सातों प्रकार के भय से रहित ।

निस्तरंग = संकल्प-विकल्पों की तरंगों से रहित ।

निष्कलंक = कर्मकलंक-रहित ।

निरंजन = कर्म-रूपी अंजन से रहित ।

अभयदाता = समस्त जीवों को अभयदान देने वाले ।

दृष्टि-दाता = विवेक रूपी दिव्य दृष्टि के दाता, त्रिभुवन में सारभूत सम्यग्-दृष्टि-आत्मदृष्टि प्रदान करने वाले ।

मुक्ति-दाता = मुक्ति प्रदान करने वाले ।

मार्ग-दाता = मोक्ष-मार्ग प्रदान करने वाले ।

बोधिदाता = आत्म-स्वरूप का बोध देने वाले ।

शरण-दाता = अशरण जीवों को सच्ची शरण देने वाले ।

धर्म दाता = धर्म का दान करने वाले ।

धर्म-देशक = अहिंसा, संयम, तप-रूप धर्म के प्ररूपक ।

धर्म-नायक = धर्म के स्वामी, धर्म के शासक ।

धर्म-सारथी = धर्म रूपी रथ के सारथी ।

हृषिकेश = इन्द्रियों के स्वामी, इन्द्रियों का निग्रह करने वाले; हृषिक = इन्द्रिय, ईश = स्वामी ।

अज = जिन्हें पुनः जन्म धारण नहीं करना है वे ।

अजर = जरा रहित ।

अजेय = आंतर शत्रुओं के द्वारा अथवा त्रिलोक के किसी अन्य बल द्वारा जो जीते नहीं जा सकें ।

अचल = महान् भयानक उपसर्गों से भी विचलित नहीं होने वाले, शुद्ध स्वभाव में सदा स्थिर रहने वाले ।

अव्यय = नाश नहीं होने वाले।

महादेव = सब देवों में महान्।

शंकर = शान्ति करने वाले।

शिव = कल्याणकारी।

महेश्वर = महान् सामर्थ्यशाली।

महाव्रती = संयमियों में महान्।

महायोगी = महान् योगियों में महान्, परिपूर्ण परमात्मा योगमय।

महात्मा = महान् आत्मा वाले, आत्मा की सर्वोच्चता को आगे करने वाले। आत्म-सर्वांगी।

मृत्युंजय = मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाले।

मुक्ति-स्वरूप = कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त अवस्था वाले।

जिन – राग-द्वेष के विजेता।

जापक = राग-द्वेष पर विजय कराने वाले।

तीर्ण = संसार-समुद्र को पार किये हुए।

तारक = संसार-सागर से उद्धार करने वाले।

बुद्ध = बोध-प्राप्त।

बोधक-बोध प्राप्त कराने वाले।

मुक्त = कर्म-बन्धन से मुक्त।

मोचक = कर्म-बन्धन से मुक्त करने वाले।

त्रिकालवित् = तीनों कालों के समस्त भावों के ज्ञाता।

पारंगत = संसार-सागर का पार पाये हुए।

तीर्थंकार = साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले।

अरिहन्त = आन्तरिक शत्रुओं के संहारक।

अरहन्त = अष्ट महा प्रातिहार्य रूप पूजा के सर्वथा योग्य, अर्थात् पात्रता की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए; त्रिभुवन द्वारा पूज्य।

अरुहन्त = कर्म रूपी बीज जलने से जिनकी भव-परम्परा नष्ट हो गई है।

केवली = कैवल्य-लक्ष्मी के धारक।

चिदानंदघन = ज्ञान एवं आनन्द के घन स्वरूप।

भगवान् = अनन्त ज्ञान, ऐश्वर्य, सामर्थ्य आदि गुणों से युक्त।

विधि = मोक्ष मार्ग का विधान करने वाले।

विरंचि = ब्रह्म-पर-ब्रह्म को धारण करने वाले।

विश्वम्भर = केवली समुद्घात के समय स्वात्म प्रदेशों से विश्व को परिपूर्ण करने वाले, विश्व-व्यापक अथवा सकल ज्ञेय पदार्थों पर प्रकाश डाल कर ज्ञान-गुण से विश्व को भरने वाले।

अघ-हर = पाप नष्ट करने वाले।

अघ-मोचन = पाप से मुक्त करने वाले।

वीतराग = राग-रहित।

अनन्तगुणी = अनन्त ज्ञान आदि गुणों के धारक।

सम्यक्-श्रद्धेय = सच्चे रूप में श्रद्धा करने योग्य।

सम्यग्-ध्येय = सच्चे रूप में ध्यान करने योग्य।

सम्यक्-शरण्य = सच्चे रूप में शरण स्वीकार करने योग्य।

अचिन्त्य-चिन्तामणि = चिन्तामणि सोचे हुए पदार्थ प्रदान करती है जबकि परमात्मा नहीं सोचे हुए पदार्थ भी प्रदान करते हैं।

अकाम कामधेनु = कामधेनु वांछित पदार्थ देती है, जबकि परमात्मा नहीं चाहे हुए पदार्थों को भी देते हैं।

असंकल्पित-कल्पद्रुम = कल्प-वृक्ष संकल्प के अनुसार वस्तु देता है, जबकि परमात्मा जिनका संकल्प भी न किया हो ऐसे स्वर्ग, अपवर्ग (मोक्ष) के सुख प्रदान करने वाले हैं।

श्री अरिहन्त परमात्मा के इन समस्त नामों एवं उनके अर्थों में मन लगाने से, प्राण पिरोने से, शक्ति केन्द्रित करने से जीवन में अपूर्व उत्साह बल शुद्धि एवं स्नेह प्रकट होता है; जो मोक्ष पुरुषार्थ में प्रोत्साहन देता है; कर्म-बल को परास्त करता है; बुद्धि को शुद्ध करता है और जीवों को स्नेह प्रदान करने का आत्म-स्वभाव प्रकट करता है।

नाम-अरिहन्त द्वारा समापत्ति

श्री अरिहन्त परमात्मा के नाम, आकृति, द्रव्य एवं भाव-इन चार निक्षेपों के आलम्बन से समापत्ति सिद्ध होने पर किस प्रकार परमात्मा का तात्त्विक दर्शन और मिलन हो सकता है, इस विषय में आवश्यक चिन्तन करें। समस्त शास्त्रों में प्रभु नाम की अचिन्त्य महिमा बताई गई है। आज भी समस्त आस्तिक दर्शन अपने-अपने इष्ट-देव का नाम-स्मरण करके अपना जीवन धन्य मानते हैं।

प्रभु का नाम-स्मरण प्रभु दर्शन का अत्यन्त सरल-सुगम उपाय होने से आबाल-वृद्ध सबको महान् उपकारी होता है।

जैन दर्शन में 'श्री नमस्कार महामन्त्र' की शिक्षा सर्व प्रथम प्रदान की जाती है तथा प्रत्येक धर्म-क्रिया का प्रारम्भ उसके स्मरण से किया जाता है। उसका कारण यही है कि 'श्री नवकार महामन्त्र' समस्त सिद्धान्तों में व्याप्त है, समस्त प्राणियों के समस्त प्रकार के पापों का समूल उच्छेद करने की क्षमता युक्त है, समस्त मंगलों में उत्कृष्ट मंगल है, समस्त प्रकार के भय हरने वाला है और स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) के सुखों का मूल कारण है।

इस मन्त्राधिराज श्री नवकार की विधि पूर्वक आराधना करने वाले व्यक्ति त्रिभुवन-पूज्य तीर्थंकर पद को भी प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार शास्त्रों में श्री नवकार की महिमा प्रदर्शित की गई है, वह समस्त महिमा प्रकृष्ट पुण्यवंत श्री पंच परमेष्ठी भगवन्तों के नाम-स्मरण की ही समझनी चाहिये।

नाम स्मरण का अपूर्व चमत्कार

श्री पंच परमेष्ठी भगवन्तों के नाम-स्मरण द्वारा विचार और वाणी विशुद्ध बनते हैं और वे हमारे व्यवहार को विशुद्ध करते हैं। विशुद्ध विचार, वाणी एवं व्यवहार से पूर्ण शुद्ध स्वात्म स्वरूप की क्षुधा जागृत होती है। अत: जैन-दर्शन में सर्वप्रथम उसकी शिक्षा प्रदान की जाती है।

श्री पंच परमेष्ठी भगवन्तों के नाम-स्मरण, वन्दन एवं गुणों के कीर्तन द्वारा आत्मा के असंख्य प्रदेशों में प्रविष्ट पाप के परमाणुओं का नाश होता है, आत्मा लघुकर्मी बनती है, धीरे-धीरे आत्मा बहिरात्म-दशा से विमुख होती जाती है, अन्तरात्म दशाभिमुख होती जाती है और अन्त में परमात्म-दशा का अनुभव करने वाली बनती है।

इस प्रकार आत्मा को परमात्मा बनाना अर्थात् जीव को शिव बनाना ही श्री जिन शासन के सारभूत श्री नवकार का सार है।

अनादि काल से विभाव के वश में होकर आत्मा ने क्रूर कर्मों की क्रूरता सहन की, दुर्गति के भयानक कष्ट सहन किये और जन्म-मरण की परम्परा का सृजन किया।

चौदह पूर्वों के ज्ञान द्वारा विभाव की भयंकरता एवं स्वभाव की भद्रंकरता का ध्यान आता है और आत्मा विभाव से विरम कर स्वभाव में स्थिर होकर शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट कर सकती है।

श्री पंच परमेष्ठी भगवन्तों के नाम-स्मरण द्वारा और स्वरूप के चिन्तन, मनन, ध्यान द्वारा भी आत्मा विभाव से विरम कर, स्वभाव में स्थिर होकर शुद्ध स्वात्म स्वरूप को प्रकट कर सकती है, इसीलिये वह चौदह पूर्व का सार माना जाता है। चौदह पूर्वी भी अन्त में उसकी शरण ग्रहण करते हैं।

तात्पर्य यह है कि पंच परमेष्ठी भगवन्तों के नाम-स्मरण में पाप-प्रकृतियों को भेदने की अचिन्त्य शक्ति निहित है, आत्मा को निष्पाप बनाने

का अगाध सामर्थ्य है । इसलिये उनका स्मरण, मनन और ध्यान पापों को समूल नष्ट कर सकता है ।

इस प्रकार पाप-प्रकृति का विलय और पुण्य-प्रवृत्ति का संचय करने वाला होने से वह श्रेष्ठतर मंगल स्वरूप है ।

गुण-निधान श्री पंच परमेष्ठी भगवन्तों की उपासना के द्वारा आत्मा में प्रच्छन्न गुण प्रकट होने लगते हैं, प्रकृष्ट पुण्य का संचय होता है जिसके द्वारा स्वर्ग एवं अपवर्ग के सुख प्राप्त होते हैं ।

विधि एवं सम्मानपूर्वक की गई श्री पंच परमेष्ठी भगवन्तों की नाम-स्मरण, जप, ध्यान आदि उपासना द्वारा तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है । आज तक जो-जो तीर्थंकर परमात्मा हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे, वे समस्त इन पंचों परमेष्ठी भगवन्तों की प्रकृष्ट उपासना के द्वारा ही हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे ।

जीव को मुक्ति का सच्चा मार्ग श्री पंच परमेष्ठी को नमस्कार करने से प्राप्त होता है, क्योंकि उनके समग्र मन में सर्व मंगलकारी शुद्ध आत्म-स्नेह का साम्राज्य स्थापित होता है । अतः उनको नमस्कार करने वाले के मन में आत्म-स्नेह स्थापित होता है और अनात्म-रति नष्ट होती है ।

"नमो अरिहंताणं" बोलने पर वर्तमान काल के इस क्षेत्र के चौबीस अरिहंत भगवन्तों के परम तारणहार जीवन तथा परम गुणों के सम्बन्ध पर हम आ जाते हैं । इतना ही नहीं, परन्तु सर्व कालिक, सर्व क्षेत्र के सर्व श्री अरिहन्त भगवन्तों के परम तारणहार जीवन के सम्बन्ध में तथा परम गुणों के सम्बन्ध पर आया जाता है, उस जीवन और उन गुणों की अनुमोदना होती है ।

मनुष्य स्वयं जितना धर्म कर सकता है उससे अनन्त गुना धर्म इस अनुमोदना से कर सकता है, होता है । इस अकाट्य नियम के अनुसार सच्चे

भाव से किया गया एक नमस्कार भी जीव को शिव बनाने का शास्त्रीय विधान यथार्थ ठहराता है।

इस प्रकार प्रभु के नाम-स्मरण का प्रभाव अकल्पनीय है, अचिन्त्य है।

'कल्याण मन्दिर स्तोत्र' और 'भक्तामर स्तोत्र' में भी प्रभु-नाम का अचिन्त्य प्रभाव प्रदर्शित किया गया है।

"आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते, नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति .... (कल्याण मन्दिर स्तोत्र-श्लोक ७)

अर्थः—हे जिनेश्वर देव ! आपके गुण-स्तवनों की तो अचिन्त्य महिमा है ही, परन्तु आपके नाम का स्मरण भी विश्व के जीवों को पावन करता है, अशुभ भावों से हटाकर शुभ भावों में लगाता है।

त्वन्नाममंत्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः, सद्यः स्वयं विगत बन्धभया भवंति (भक्तामर स्तोत्र–श्लोक ४२)

अर्थः—हे नाथ ! आपके नाम-मन्त्र का निरन्तर स्मरण करने वाले व्यक्ति बन्धन से शीघ्र मुक्त होते हैं।

परमात्म-नाम रूप मन्त्रात्मक देह

श्री अरिहन्त परमात्मा का नाम उनकी मन्त्रात्मक देह है। सभी अरिहन्त भगवन्त मोक्ष-गमन के समय समस्त जीवों के उद्धार के लिये अपनी मन्त्रात्मक देह को विश्व पर रखते जाते हैं। इससे उनकी अनुपस्थिति में भी साधक अरिहन्त नाम (श्री अरिहन्त परमात्मा की मन्त्रात्मक* देह) के

---

* जग्मुर्जिनास्तदपवर्गपदं तदैव, विश्वं वराकमिदमत्र कथं विना स्यात्। तत् सर्व लोक भुवनोद्धरणाय धीरै र्मन्त्रात्मकं निजवपुर्निहितं तदत्र ॥ (नमस्कार स्वाध्याय भाग पहला)

आलम्बन द्वारा अपने समस्त पापों का क्षय करके भाव अरिहन्त रूप स्वात्म स्वरूप के साक्षात् दर्शन कर सकता है, क्योंकि अरिहन्त' शब्द श्री अरिहन्त परमात्मा का वाचक होने से कथंचित् अरिहन्त स्वरूप है ।

इसलिये 'नमो अरिहन्ताणं' एवं 'अर्हं' आदि महामन्त्र के ध्यान में तन्मय होने से श्री अरिहन्त परमात्मा के साथ तन्मयता सिद्ध होती है और वह उनके साक्षात् दर्शन के समान है । इसीलिये श्री अरिहन्त परमात्मा के ध्यान में तन्मय बनी साधक आत्मा भी आगम से 'भाव अरिहन्त' कहलाती है ।

मन अपना मिटकर परमात्मा का हो जाये उस घटना को इस विश्व की उत्कृष्ट मंगलकारी घटना कही है । इसीलिये परमात्मा के नाम स्मरण को जीवन बनाने में विश्वात्मक जीवन का श्रेष्ठ सम्मान है ।

मन्त्र की आराधना द्वारा परमानन्द का अनुभव

नाम अरिहन्त अक्षरात्मक है । अक्षर मन्त्र-स्वरूप है । चार अक्षर के इस शब्द के जाप में से उत्पन्न उत्कृष्ट प्रकार के संगीत से मन सहित समस्त प्राणों को अपूर्व पवित्रता, अपूर्व आनन्द स्पर्श करता है । उसमें से क्रमशः रस-समाधि लगती है, सरस आत्मा की स्पष्ट अनुभूति होती है ।

मन्त्राक्षर की प्रत्येक ध्वनि अन्तः प्राणों पर उपघात करती-करती सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होकर अनाहत कक्षा का वरण करती है । तब साधक-जापक और साध्य-जाप्य एकरूप हो जाते हैं और यही उस मन्त्र जाप का यथार्थ फल है ।

अनेक जापों के पश्चात् अजपा-जाप की कक्षा स्वाभाविक बनती है । तत्पश्चात् अनाहत नाद के स्पर्श का प्रारम्भ होता है ।

अनाहत नाद एवं श्री अरिहन्त परमात्मा

इस प्रकार मन्त्रयोग (जप योग) की साधना नाम अरिहन्त की ही आराधना है। उस आराधना में आगे बढ़ा हुआ साधक जब श्री अरिहन्त परमात्मा के स्वरूप में लीन होता है और अन्तरात्मा में ही परमात्म-स्वरूप के दर्शन करता है तब उसे भाव अरिहन्त के दर्शन होते हैं।

इस प्रकार नाम अरिहन्त की आराधना के द्वारा भाव अरिहन्त के दर्शन होते हैं।

* श्री सिंह तिलक सूरि कृत 'मन्त्रराज रहस्य' में 'अनाहत' का अर्थ 'अरिहन्त' बतलाया है। उसका रहस्य उपर्युक्त अपेक्षा से विचार करने से समझा जा सकता है।

जैसे अर्हं मन्त्र के जाप में तन्मयता सिद्ध होने से अनक्षर अनाहत नाद उत्पन्न होता है वह भी अरिहन्त-स्वरूप में तल्लीनता कराने वाला होने से और श्री अरिहन्त परमात्मा के साथ एकता सिद्ध कराने वाला होने से अरिहन्त स्वरूप है।

भाष्य, उपांशु और मानस-जाप की कक्षाओं में उत्तीर्ण होने के पश्चात् इस अनक्षर अनाहत नाद की कक्षा में प्रवेश मिलता है।

इस श्लोक का रहस्य यह है कि मुनि जब व्योम स्वरूप निर्विशेष मनस्काय अवस्था को प्राप्त होता है तब 'अर्हम्' यही एक नादमय रहता है। गिर पड़ते पके हुए फलों की तरह अन्य समस्त अवस्था उसके समग्र मन में से टूट पड़ती है और वह स्वयं के स्वरूप में, स्वयं में स्थिर होकर समस्त मन्त्रों के बीज-भूत अनाहत नाद को प्राप्त करता है।

---

* नादोऽर्हन्न व्योम मुनि। ३५१ ॥ ४३६ ॥
बिन्दु निभोऽनाहतः सोऽर्हन्न ॥ ४४७॥

अर्हं का अद्भुत रहस्य—"त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र" के मंगला-चरण में इस प्रकार बताया गया है—

"अर्हं" का अद्भुत रहस्य:—

सकलार्हत्प्रतिष्ठान—मधिष्ठानं शिव श्रिय: ।
भूर्भुव: स्वस्त्रयीशान–मार्हन्त्यं प्रणिदध्महे ।।१।।

अर्थ:—जो समस्त पूजनीय आत्माओं एवं समस्त अरिहन्तों का भी प्रतिष्ठान है, शिव-लक्ष्मी का अधिष्ठान है और जो मर्त्य, पाताल और स्वर्ग लोक के स्वामी हैं, उन 'आर्हन्त्य' का हम प्रणिधान (ध्यान) करते है।

"अर्हं" मंत्राधिराज है। इसकी अपार महिमा का शास्त्रों में वर्णन है। गुरु की कृपा से उसका रहस्य जानने से अरिहन्त परमात्मा के प्रति तात्त्विक प्रीति एवं भक्ति उत्पन्न होती है।

"अर्हं" का सामान्य अर्थ 'अहंरहितता' होता है। अत: 'दासोऽहं' पद से श्री अरिहन्त की आराधना करने वाला आराधक क्रमश: "सोऽहं" और "अहं" पद को पार करके 'अर्हं' पद का पात्र हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि "अर्हं" परमेष्ठी बीज है, जिनराज बीज है, सिद्धि बीज है, ज्ञान बीज है, त्रैलोक्य बीज है तथा श्री जिन शासन के सारभूत श्री सिद्धचक्र का भी आदि बीज है। परमेष्ठि–बीज *"सकलार्हत्प्रतिष्ठानम्" परम-पद में स्थित श्री अरिहन्त परमात्मा का वाचक होने से "अर्हं" परमेष्ठी बीज है।

श्री अरिहन्त परमात्मा तत्त्व से पंच परमेष्ठि स्वरूप भी है; क्योंकि वे तीनों लोकों के लिये पूजनीय होने से 'अरिहन्त' कहलाते हैं, उनमें उपचार से द्रव्यसिद्धत्व होने से सिद्ध कहलाते हैं, उपदेशक होने से 'आचार्य' कहलाते

---

* अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म वाचकं परमेष्ठिन: ।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वत: प्राणिदध्महे ।।

हैं, शास्त्रार्थ के पाठक होने से 'उपाध्याय' कहलाते हैं और निर्विकल्प चित्त वाले होने से 'साधु' कहलाते हैं। इस प्रकार पंच परमेष्ठियों का वाचक होने से "अर्हं" परमेष्ठि बीज है।

जो परम-पद पर प्रतिष्ठित तथा परम ज्ञान स्वरूप श्री अरिहन्त परमात्मा का वाचक है तथा अचल, अविनाशी, परम ज्ञान स्वरूप अथवा मोक्ष एवं ज्ञान के हेतु रूप तथा श्री सिद्ध चक्र का प्रधान बीज है उन "अर्हं" का हम सर्वतः, सर्व क्षेत्र और सर्वकाल में प्रणिधान-ध्यान करते हैं (सिद्धहैम व्याकरण)। इस प्रकार सकल-अर्हंत् अर्थात् पूजनीय परमेष्ठी और सकल अर्हंत् अर्थात् श्री अरिहन्तों का स्थान, 'अर्हं' परमेष्ठि–बीज और श्री जिनराज-बीज है।

सिद्ध बीज :—"अधिष्ठानं शिव श्रियः" —"अर्हं" शिव लक्ष्मी अर्थात् सिद्ध का भी बीज है। अक्षर अर्थात् मोक्ष, उसका हेतु होने से मोक्ष का बीज कहलाता है तथा स्वर्ण-सिद्धि आदि महासिद्धियों का कारण होने से 'सिद्ध बीज' है, तथा शिव-कल्याण-मंगल आदि का बीज होने से शिव अथवा सुख का भी बीज कहलाता है। श्री लक्ष्मी-केवल-ज्ञान रूपी लक्ष्मी अथवा धन-सम्पत्ति रूपी लक्ष्मी का भी बीज है।

*** ज्ञान बीजः**—"अर्हं" ब्रह्म स्वरूप होने से ज्ञान-बीज है। "सकलार्हंत्" अर्थात् कला सहित "अ–र–ह" जिसमें प्रतिष्ठित है ऐसे "अर्हं" में 'अ' से 'ह' तक के अक्षरों का समावेश होने से वह समग्र श्रुत-ज्ञान का भी बीज है।

त्रैलोक्य बीज :—"अर्हं" त्रैलोक्य बीज है।

---

* ज्ञान बीजं जगद्वन्द्यं, जन्ममृत्युजरापहम।
अकारादि हकारान्तं, रेफ–बिन्दु–कलांकितम्।—[तत्त्वार्थ-सार-दीपक]
सकलागमोपनिषद्भूतं सकलस्य द्वादशांगस्य—
गणिपिटकरूपस्यैहिकामुष्मिकरूपफलप्रदस्यागमस्योपनिषद्भूतं।
[सिद्धहेम वृहत् व्याकरण]

"अर्हं" शब्द में वर्णों की रचना इस प्रकार है। "अ–र–ह–कला–बिन्दु।' उसकी समस्त शास्त्रों में तथा समस्त लोक में व्यापकता है, वह इस प्रकार है:—

"अर्हं" में 'अ' से 'ह' तक की सिद्ध मातृका (अनादि सिद्ध बारहाक्षरी) निहित है। उनमें से एक-एक अक्षर भी तत्त्व स्वरूप है। फिर भी 'अ–र–ह' ये तीन वर्ण अत्यन्त विशिष्ट हैं।

'अ' तत्त्व की विशिष्टता:—

(१) 'अकार' समस्त जीवों को अभय प्रदान करने वाला है, क्योंकि 'अकार' शुद्ध आत्म–तत्त्व का वाचक है।

जिस आत्मा को शुद्ध आत्म-तत्त्व की प्रतीति होती है, वह स्व एवं पर समस्त जीवों को वास्तविक रीति से अभय प्रदान करता है।

'अ' का उपघात, 'अ' के जाप की अश्राव्य ध्वनि-तरंग आत्मा के अक्षर प्रदेश को खोलने का कार्य करती है।

'अ' से अजर, अमर, अक्षर, अव्यय, अविनाशी, अखण्ड, अनादि, अनुपम, अलौकिक आत्म-तत्त्व का बोध होता है।

जिसे शुद्ध आत्म-तत्त्व का बोध होता है वह जीव अल्प काल में ही समस्त कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर परम पद प्राप्त करता है और अपनी ओर से समस्त जीवों को सदा के लिये अभय दान देता है।

(२) 'अकार' समस्त जीवों के कण्ठ-स्थान के आश्रित रहने वाला प्रथम तत्त्व है।

(३) वह 'अकारत्व' सर्व स्वरूप, सर्वगत, सर्व व्यापी, सनातन और सर्व जीवाश्रित है, जिससे उसका चिन्तन भी पाप-नाशक बनता है, क्योंकि वह समस्त वर्णों और स्वरों में अग्रगण्य है और 'क' कारादि समस्त व्यंजनों के उच्चारण में उसका प्रयोग होता है। अतः वह सब प्रकार के मंत्र-तंत्रादि

योगों में, सब विद्याओं में, सब विद्याधरों में, सब पर्वतों में, वनों में और देवाधिदेव परमात्मा के समस्त नामों में आकाश की तरह व्याप्त है।

अतः यह परम-ब्रह्म है, कला रहित अथवा कला सहित 'अ' जो परमात्मा के नाम के आदि में है, उस परमात्मा का ध्यान मोक्षार्थी जीव अवश्य करते हैं और करना चाहिये यह मानते हैं।

'र' तत्त्व की विशेषता

प्रदीप्त अग्नि के समान समस्त प्राणियों के ब्रह्म रंध्र (मस्तक) में निहित 'र' तत्त्व का विधिपूर्वक ध्यान ध्याता को त्रिवर्ग फल प्रदान कर सकता है, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम रूपी त्रिवर्ग की सिद्धि प्रदान करता है।

अनन्त-लब्धि-निधान श्री गौतम स्वामी परम तारणहार श्री महावीर स्वामी परमात्मा के निर्वाण के पश्चात् 'वीर-वीर' कह कर विलाप कर रहे थे। अर्द्ध-रात्री के पश्चात् अग्नि बीज रूपी 'र' अक्षर के प्रभाव से उनके होंठ सूखने लगे। कंठ में शोष होने से 'र' अक्षर छूट गया और केवल 'वी' अक्षर का जाप चलता रहा। वे अनन्त बीज-बुद्धि के स्वामी थे, अतः उस 'वी' में से उन्हें वीत-राग, वीत-द्वेष, वीत-भय, वीत-शोक आदि शब्दों का स्फुरण हुआ और उनके मर्म के स्पर्श से प्रातःकाल होते-होते उन्होंने चार घाती कर्मों का क्षय करके केवल-ज्ञान उपार्जित किया।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'र' अग्नि-बीज है। काष्ठ के ढ़ेर को भस्म करने में अग्नि जो कार्य करतो है वही कार्य कर्म रूपी काष्ठ को भस्म करने में 'र' परमात्मा के नाम के मध्य में हैं, वह परमात्मा श्री अरिहन्त के नाम का जाप-चिन्तन एवं ध्यान भी अचूक प्रकार से करते हैं।

अतः उस परमात्मा की पूजा-भक्ति आदि करने में मानव-भव की सार्थकता है।

'ह' तत्त्व की विशेषता

जो सदा समस्त प्राणियों के हृदय में रहता है, समस्त वर्णों के अन्त में लौकिक शास्त्रों में महा-प्राण के रूप में पूज्य है, उस सकल अथवा निष्कल 'ह' का विधिपूर्वक ध्यान करने वाले साधक के समस्त कार्य सिद्ध होते हैं।

जिस देवाधिदेव के नाम के अन्त में यह 'ह' कार है, उस 'अर्हं' देव का प्रत्येक मोक्षार्थी को ध्यान करना चाहिये।

अपूर्णता सचमुच अटपटी तब ही लगती है जब इस 'ह' का अभिषेक प्राणों को होता है।

हवाई-पट्टी (Aeroplane-ground) पर से ऊपर उठते समय वायु-यान के पंख जिस तीव्रता से वायु को दबा कर ऊपर चढ़ते हैं, वैसी अत्यन्त गतिशीलता प्राणों में 'ह' की अश्राव्य महाध्वनि-तरंगें उत्पन्न करती हैं।

अतः चार गति रूप संसार को पार करके पांचवी गति रूप मोक्ष को प्राप्त करने के उत्कृष्ट आशय वाले मनुष्य 'अर्हं' में एकाकार होने में अपना सौभाग्यकारी भाव प्रवाहित करते रहते हैं।

बिन्दु का रहस्य

जो समस्त प्राणियों की नासिका के अग्र भाग में और समस्त वर्णों के मस्तक पर स्थित होता है और जो 'हकार' पर जल-बिन्दु की तरह वर्तुलाकार में रहता है और जो योगियों द्वारा ध्येय-चिन्तन करने योग्य है, वह बिन्दु समस्त साधक जीवों को मोक्ष-दाता है।

इस प्रकार महान् प्रभावशाली तत्त्व स्वरूप अकारादि तीन अक्षर और बिन्दु मिल कर जिस देव का नाम बनता है, उस 'अर्हं' को पंडितगण 'सर्वज्ञ' कहते हैं।

मंत्राधिराज 'अर्हं' के आधार पर ही अन्य दर्शनकारों ने कुण्डलिनी योग, नाद-योग, बिन्दु-योग और लय-योग आदि का विधान किया है। अतः अर्हं की ध्यान-प्रक्रिया में समस्त योग समाविष्ट हैं। वे इस प्रकार हैं :—

कुण्डलिन :: ॐ में जो ॐ का चिह्न है, उसे अन्य दर्शनकार कुण्ड़लिनी महाशक्ति का प्रतीक कहते हैं। इस मंत्रराज की साधना के द्वारा आत्मा परमात्म-भाव प्राप्त करती है, वह इस प्रकार—

'अर्हं' में 'हं' परमात्मा का वाचक है, जबकि 'अ' आत्मा का वाचक है। अनादि काल से आत्मा अविद्या-अज्ञान के वशीभूत होकर अपना मूल स्वरूप भूल गई है कि "मैं सच्चिदानंदघन हूँ, शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ, निरंजन हूँ, निराकार हूँ, अकल, अजर, अमर हूँ। जबकि यह वर्तमान में दृष्टिगोचर होती अशुद्ध, अपूर्ण, कर्मांजन युक्त साकार, सकल, सजर एवं विनश्वर अवस्था कर्म-कृत है। कर्म द्वारा ही मेरा शुद्ध-पूर्ण सहज स्वरूप दबा हुआ है, जबकि 'अर्हं' के जाप-ध्यान द्वारा आत्मा का परमात्मा के साथ मिलाप होता है, तब शुद्ध निजात्म स्वरूप की अनुभूति होती है।

परमात्मा अर्थात् विशुद्ध आध्यात्मिक शक्ति का महास्रोत (Great Power House)।

जब आत्मा इस परमात्मा के स्वरूप (Great Power House) के साथ मिलाप करती है (सम्बन्ध स्थापित करती है) तब, उसके असंख्य प्रदेशों में सम्यग्-ज्ञान की दिव्य ज्योति फैलती है और अज्ञान-तिमिर का नाश होता है। जब आत्मा परमात्मा के ध्यान में लीन हो जाती है तब भक्ति-योग के द्वारा प्राप्त होने वाली अवस्था से अन्य दर्शनों को मान्य कुण्ड़लिनी महा शक्ति का उत्थान सुलभ हो जाता है। उसके लिये कठोर प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती।

नाद-योग:— 'अर्हं' के जाप, ध्यान द्वारा उत्थान प्राप्त कुण्ड़लिनी शक्ति क्रम से षट् चक्रों का भेदन करके ब्रह्मरंध्र में पहुँचती है, तब आत्मा शुद्ध स्वरूप में रमणता के द्वारा अपूर्व आनन्द की मस्ती मानती है और उस समय आत्मा भाव-समाधि में लीन होती है; तब ब्रह्मरध्र में सूक्ष्म-सुमधुर ध्वनि सुनाई देती है जो ध्वनी 'अनाहत नाद' के नाम से पहचानी जाती है। उस समय का आनन्द अपूर्व होता है।

बिन्दु-योग:—'अर्हं' के जाप द्वारा जब आत्मा अनाहत नाद में लीन होती है, तब 'अर्हं' के अन्तिम 'म्' की सूक्ष्म ध्वनि होती है। वह ध्वनि अत्यन्त

मधुर और आल्हादक होती है। यह बिन्दु-योग है। वह लय-योग की पूर्व भूमिका, पूर्व अवस्था स्वरूप होता है।

लय-योगः—बिन्दु-योग की सिद्धि से आत्मा जब स्व-स्वरूप में अर्थात् परब्रह्म में लीन होती है, तब समस्त आन्दोलन शान्त हो जाते हैं, आत्मा अभेद भाव से परमात्मा के साथ मिल जाती है।

परमात्म स्वरूप की प्रतीति आत्म स्वरूप की यथार्थ प्रतीति के द्वारा ही होती है, जिसे योगी पुरुष अनुभव-ज्ञान, समाधि अथवा समापत्ति आदि नामों से पहचानते हैं।

यह अवस्था विचार एवं वाणी से परे है, केवल अनुभव-गम्य ही है। अतः पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी गणिवर ने फरमाया है कि—

"जिन ही पाया तिन ही छिपाया,
न कहे कोऊ के कान में;
ताली लागी जब अनुभव की,
तब समझे कोऊ सान में।"

यही उत्कृष्ट कोटि का लय-योग है, यही परमात्म-भाव की उपासना है, यही आत्म-स्वरूप की साधना है।

इस प्रकार 'अर्हं' के जाप-ध्यानादि द्वारा अन्य दर्शनकारों को मान्य कुण्ड़लिनी योग, नाद-योग, बिन्दु-योग एवं लय-योग की साधना भी सिद्ध होती है।

तथा 'अ' से 'ह' तक के समस्त अक्षर श्रुत ज्ञान-रूप हैं। उसका* अनन्तवाँ भाग समस्त जीवों में नित्य खुला रहता है।

---

* अक्खरस्स अणंतमो भागो निच्चं उग्घाडिओ होइ ॥

इस प्रकार 'अर्हं' के अक्षरों की समस्त शब्दों एवं समस्त जीवों में अपेक्षा से व्यापकता सिद्ध करके श्रुत-ज्ञान, मंत्र-योग और ध्यान आदि समस्त योगों में 'सकलार्हत्' अर्थात् कला सहित अ, र्, ह अक्षरों की महान् उपयोगिता बताई है।

जिस प्रकार 'ह्रीं' कार में भी ह, र् ँ (शुद्ध कला), एवं 'ी' दीर्घ कला का प्रयोगक्रम से श्री पंच परमेष्ठियों का सूचक है। उसी प्रकार से 'श्री मंत्रराज रहस्य' में ॐ ह्रीं और अर्हं के अनेक अर्थों और ध्यान के अनेक प्रकारों का निर्देश किया गया है। उसका रहस्य समझने से साधना में अपूर्व विकास एवं आनन्द की अनुभूति होती है।

नाम अरिहन्त की आराधना

श्री अरिहन्त परमात्मा के नाम-स्मरण अथवा नाम के जाप से नाम अरिहन्त की उपासना की जा सकती है।

परमात्मा का नाम किसी भी साधक के लिये महामंत्र तुल्य है। उसके जाप से आत्मा का मोह-विष उतरता है, आत्मा निर्मल बनती है, अन्य विकल्प शान्त हो जाने से तन्मयता सिद्ध होती है।

जाप के निम्नांकित तीन प्रकार हैं—

(१) भाष्य, (२) उपांशु, और (३) मानस।

भाष्य जाप अर्थात् उच्चार पूर्वक किया जाने वाला जाप; "यस्तु परैः श्रूयते स भाष्यः" समीपस्थ मनुष्य सुन सकें वैसे उच्चार पूर्वक किया जाने वाला जाप भाष्य जाप कहलाता है। यह जाप वैखरी वाणी स्वरूप है।

बालक प्रारम्भ में एक का अङ्क घोटता है और जब उसमें प्रवीण हो जाता है तब ही वह उस अङ्क को लिख सकता है। जिस स्लेट पर वह बड़ी मुश्किल से पूरी स्लेट में केवल एक का अङ्क ही लिख पाता था, उसी स्लेट पर अब वह एक से लगाकर एक सौ तक की गिनती (संख्या) सरलता से लिख

लेता है। उसी प्रकार से भाष्य जाप में प्रवीणता प्राप्त होने पर ही उपांशु जाप में सरलतापूर्वक प्रवेश किया जा सकता है। एक का अंक घोटने में थकने वाला बालक गिनती सीखने में आगे नहीं बढ़ सकता, उसी प्रकार से भाष्य जाप करने में थकने वाला साधक आगे नहीं बढ़ सकता।

उपांशु-जाप--इस जाप में प्रकट उच्चारण नहीं होता, परन्तु कंठगत मध्यमा वाणी से उच्चार होने के कारण अन्य मनुष्यों को जाप के शब्द नहीं सुनाई देते। कहा भी है कि—

'उपांशुस्तु परैरश्रूयमाणोऽन्तःसंजल्परूपः'

अर्थात् अन्य मनुष्यों से नहीं सुना जा सकने वाला अन्तर-संजल्प रूप जाप को उपांशु जाप कहते हैं। यह जाप सामान्यतः सब प्रकार के साधकों के लिये उपयोगी है।

मानस-जाप—उपांशु जाप में उत्तीर्ण होने वाला व्यक्ति मानस-जाप में प्रविष्ट होकर अपने समग्र मन को मंत्रमय बनाने लगता है, मंत्राक्षरमय बनाने लगता है। यह जाप हृदयगत पश्यन्ती वाणी स्वरूप है।

इस जाप की छाया समग्र मन में गहरी, व्यापक और सुदृढ़ होती है जिससे मन की चंचलता दूर होती है और एकाग्रता में अभिवृद्धि होती है। एकाग्रता में से ध्यान-योग की योग्यता उत्पन्न होती है।

इस जाप में निपुण साधक पदस्थ ध्यान को सरलतापूर्वक सिद्ध कर सकता है और पदस्थ ध्यान के सतत अभ्यास से विकल्प क्रमशः संकल्प में परिवर्तित होकर विमर्श स्वरूप में बदल जाता है। उसका स्पष्टीकरण योग-शास्त्र* में है।

इन तीनों प्रकार के जापों में तन, वचन और मन के योगों को आत्माभिमुख करने की अच्छी क्षमता है।

---

* योगशास्त्र--आठवां प्रकाश विवरण श्लोक ६–२६

शरीर की थकान, वाणी का व्यर्थ विलास और मन की अशक्तता ये तीनों दोष इन तीन प्रकार के जापों से कम होकर अन्त में जाप के विषय-भूत इष्ट देव के स्वभाव-भूत बनते हैं, स्वात्म स्वभाव-भूत बनते हैं।

मंत्रपद की साधना द्वारा आध्यात्मिक विकास

'अर्हं' आदि मंत्र-पदों के आलम्बन से क्रमशः अनहद नाद प्रकट होता है, और उसमें से क्रमशः निरालम्बन ध्यान में प्रविष्ट होने पर अविकल्प दशा प्राप्त होती है। उस मंत्र को 'मंत्रमयी देवता' अथवा 'पदमयी देवता' कहा जाता है।

मंत्र-पद जब अक्षर स्वरूप (विकल्प स्वरूप) छोड़ कर अनक्षर स्वरूप अर्थात् अविकल्प स्वरूप धारण करता है तब उसे 'मंत्र-देवता' अथवा 'पदमयी देवता' कहा जाता है।

उस समय ध्याता की मंत्र अथवा मंत्र-पद के ध्येय-स्वरूप के साथ एकता सिद्ध होती है और वही समस्त कार्य-सिद्धि का मूल है।

'ज्ञानार्णव' के २८ वें प्रकरण में भी बताया गया है कि 'इस मंत्रराज 'अर्हं' में सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, प्रशान्त, देवाधिदेव श्री जिनेश्वर परमात्मा स्वयं मंत्र-मूर्ति को धारण करके मानों साक्षात् विराजमान हों-ऐसा प्रतीत होता है।

कच्चा फल ज्यों-ज्यों पकता जाता है, त्यों-त्यों उसमें रस छूटता जाता है, छिलके के साथ उसका सम्बन्ध कम होता जाता है; उसी प्रकार से मंत्र-जाप जन्य ऊष्मा-प्रभा के प्रभाव से साधक का भाव-मल ज्यों-ज्यों कटता जाता है, त्यों-त्यों उसके मन में आत्म-रसिकता बढ़ती जाती है और बढ़ते-बढ़ते वह मंत्र देवतामय हो जाता है; अर्थात् मंत्र जिसके नाम का वाची होता है उसमें ही वह एकाकार हो जाता है और उस मन में से राग-द्वेष नष्ट हो जाता है; स्वार्थ-रसिकता सर्वथा कम हो जाती है और परमार्थ-रसिकता पुष्टातिपुष्ट होती जाती है।

"अर्हं" मम-जाप अथवा महामंत्र श्री नवकार का जाप नित्य, नियमित, चढ़ते परिणाम से विधि पूर्वक, स्थल-काल के नियम के साथ उणोदरी व्रत पूर्वक करने वाले व्यक्ति को ऐसा अनुभव अल्प काल में होता है।

यह 'अर्हं' मंत्र ज्ञान-बीज है, भाव-सन्ताप को दूर करने में मेघ के समान है, मन का त्राण करने में चक्र-रत्न के समान है, और दसों दिशाओं की आपत्तियों के आक्रमण को विफल करने में वज्र-दुर्ग के समान है। उसमें से निकलती प्रत्येक ध्वनि-तरंग में तोप से छूटते गोले से अधिक शक्ति होती है जो नियमा अशुभ शक्तियों का संहार करती है और विश्व में जीव के श्रेय का संरक्षण करती है।

इसलिये उसका साधक चक्रवर्ती और उसकी सेना के सामने भी अडोल रहता है अणनम रहता है तथा अशुभ कर्म के कारण ऐसे उग्र आक्रमण के समक्ष भी सम-भाव में रहता है और वही आध्यात्मिक विकास का चिह्न है जो इस मन्त्राधिराज की साधना से साधक-आत्मा में प्रकट होता है।

ध्यान को सर्वव्यापी बनाने की प्रक्रिया

सर्वप्रथम स्वर्ण-कमल के मध्य कर्णिका में विराजमान, निष्कलंक पूर्ण चन्द्र सदृश उज्ज्वल आकाश में चलते और समस्त दिशाओं में व्याप्त श्री जिनेश्वर देव तुल्य "अर्हं" मन्त्र का स्मरण करना चाहिये।

तत्पश्चात् महान् धैर्यवान् योगी कुम्भक प्राणायाम के द्वारा मन्त्रराज को प्रथम भ्रूलता के मध्य में स्फुरित होता, फिर मुख-कमल में प्रविष्ट होता, तालू के छिद्र में होकर बाहर निकलता, अमृत जल का सिंचन करता, नेत्र-पलकों पर स्फुरित होता, बालों पर स्थित होता, ऊपर ज्योतिष चक्र में भ्रमण करता, चन्द्रमा के साथ स्पर्द्धा करता, समस्त दिशाओं में विचरण करता, तत्पश्चात् नभ में ऊँचा-ऊँचा उछलता, कर्म-कलंक का छेदन करता और भव-भ्रमण को नष्ट करता हुआ, सिद्ध-शिला पर पहुँच कर शिव-सुन्दरी के साथ समागम करता चिन्तन करे।"

विशेष स्पष्टता

मुमुक्षु योगी "अर्हं" के ध्यान द्वारा अपने मन को मोक्षपुरी में विद्यमान शिव-लक्ष्मी से सम्पर्क साक्षात्कार एवं करने के लिये बार-बार भेजता है, ताकि आत्मा के साथ शिव-सुन्दरी की प्रगाढ़ प्रीति हो और सदा के लिये शीघ्र समागम हो।

इस प्रक्रिया में "अर्हं" को विमान का स्वरूप प्रदान करके उसकी गति को वेगवती बनाने के लिये प्रथम भ्रूलता के मध्य से मुख-मण्डल में प्रवेश देकर वहाँ कुछ समय ध्यान के द्वारा चक्राकार में भ्रमण कराना चाहिये। वेग में प्रबलता आने पर तालुरंध्र में से बाहर निकलते, अमृत-वृष्टि करते, नेत्र-मण्डल को स्पर्श करते केश-कलाप पर तनिक विश्राम करे।

तत्पश्चात् ज्योतिष चक्र पर जाकर चन्द्रमा तक पहुँच कर समस्त दिशाओं में भ्रमण करके प्रबल वेग उत्पन्न करके गगन में ऊपर ही ऊपर चढ़ता हुआ कर्म कलंक का उच्छेद करके भव-मुक्त बना साधक सिद्ध-शिला पर उतरता है और वहाँ शिव-सुन्दरी से मिलाप करता है।

"अर्हं" के ध्यान को सूक्ष्म बनाने की प्रक्रिया

कला, बिन्दु, रेफ युक्त 'अर्हं' का चिन्तन करने के पश्चात् अनक्षर स्वरूप वाले अनुच्चारणीय अर्ध चँद्राकार एवं सूर्य तुल्य तेजस्वी 'अनाहत' का चिन्तन करना।

फिर क्रमश: बाल के अग्र भाग जितने सूक्ष्म स्वरूप में उसका ध्यान करके क्षण भर अव्यक्त, निराकार ज्योतिर्मय विश्व है–इस प्रकार देखना। तत्पश्चात् उस लक्ष्य से शनैः शनैः मन को हटा कर अलक्ष्य में स्थिर करना जिससे अक्षय, अतीन्द्रिय परम ज्योति अन्तर में जगमगा उठे।

इस प्रकार लक्ष्य के आलम्बन से अलक्ष्य में प्रविष्ट होने की कला स्पष्ट की गई है, जिसके प्रयोग से योगी के समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं।*

---

* मन्त्रराज रहस्य—श्लोक ४५३ से ४५७

यहाँ विकल्प में से अविकल्प में जाने की क्रमिक साधना स्पष्ट की गई है। इस प्रकार 'अर्हं' के पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ध्यान का अभ्यासी समस्त सिद्धियों को प्राप्त करके उसी भव में सिद्धि-पद प्राप्त कर सकता है। (मन्त्रराज रहस्य)

जीव-जाति के लिये सक्रिय होने की क्षमता केवल आत्मा में है। उसका ज्ञान एवं ध्यान 'अर्हं' के सम्पर्क में आने के पश्चात् होता है और तत्पश्चात् त्रिभुवन-क्षेमंकर विशुद्ध स्नेह-परिणाम का साक्षात्कार होता है।

तत्त्वत: साधक का विशुद्ध भाव ही योग-क्षेम करने वाला है, तो भी जिसके आलम्बन से इस प्रकार का विशुद्ध भाव प्रकट होता हो उस परमात्मा को अथवा उनके मन्त्र-पद को योग-क्षेमंकर मानना न्यायोचित है, कृतज्ञता का लक्षण है।

जीव जगत् पर जिनके उपकारों की कोई सीमा नहीं है उन श्री अरिहंत आदि भगवन्तों को आगे रख कर ही जीव मोक्ष-मार्ग में अग्रसर हो सकता है। यदि कोई साधक-आत्मा केवल एक समय के लिये भी अरिहन्त-भाव से भ्रष्ट हो जाये तो वह साधना-भ्रष्ट होकर संसार में भ्रमण करने वाली हो जाये। यह तथ्य प्रदर्शित करता है कि भाव के विषय के रूप में श्री अरिहन्त आदि को स्थापित करके ही कोई भी साधक भव-सागर पार कर सकता है।

अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने से स्पष्ट होता है कि उत्तम एच विचार भी श्री अरिहन्त आदि के विश्व में विचरण करने के कारण ही उत्पन्न होता है, श्री तीर्थंकर भगवन्तों की देशना चल रही है इसलिए उत्पन्न होता है।

सूर्य के अभाव में स्थूल जगत् की जो दुर्दशा हो सकती है उससे अधिक भयानक स्थिति में जीव श्री अरिहन्त परमात्मा रूपी महान् दिवाकर के अभाव में पड़ सकता है।

चलने के लिये पाँव जो आलम्बन पूर्ण करते हैं उन पांवों को धरने के के लिये यदि भूमि प्राप्त न हो तो सब अर्थ विहीन हो जायेगा, उसी प्रकार से अन्य समस्त आलम्बनों के भी आलम्बन केवल श्री अरिहन्त हैं, आर्हन्त्य हैं।

संभेद एवं अभेद प्रणिधान

जब तक ध्याता को ध्येय के साथ ध्यान में भेद प्रतीत होता हो तब तक 'संभेद' प्रणिधान कहलाता है, अतः उसमें विकल्प दशा अवश्य होती है।

अभेद प्रणिधान में 'अर्हं' आदि ध्येय के साथ एक-रूप होकर ध्याता अरिहन्त स्वरूप में स्व-आत्मा का ध्यान करता होने से (उस समय) निर्विकल्प दशा की सम्भावना होती है।

जब संभेद प्रणिधान में वेग आता है तब ही 'अभेद प्रणिधान' सिद्ध होता है। शुभ विकल्प दशा में से ही निर्विकल्प दशा प्रकट होती है और उसका काल अल्प होने से उसे पुनः सविकल्प दशा में आना पड़ता है।

अतः सविकल्प दशा में से कुविकल्प दशा में न पड़ जायें उसके लिये भी सविकल्प दशा में, शुभ विचार में रहना चाहिये। शुभ में से शुद्ध में जाया जाता है।

विचार शुभ तब बनते हैं जब उनमें आर्त्तध्यान की बूंद भी नहीं होती परन्तु तीन लोकों के जीवों के हित की चिन्ता होती है।

ध्यान एवं प्रणिधान

मंत्र, जप अथवा पदस्थ ध्यान जब तक विकल्प के रूप में होता है तब तक 'संभेद प्रणिधान' कहलाता है; परन्तु जब परा-वाणी के द्वारा अजपा-जाप हो रहा हो अथवा 'अर्हं' पद का ध्यान अनक्षर स्वरूप में हो रहा हो तब 'अभेद प्रणिधान' कहलाता है। इस प्रकार ध्यान प्रणिधान स्वरूप है।

प्रणिधान एवं समापत्ति

योग ग्रन्थों में 'प्रणिधान' को 'समापत्ति' कहते हैं। संभेद प्रणिधान को सवितर्क अथवा 'सविचार समापत्ति' कह सकते हैं और 'अभेद प्रणिधान' को निर्वितर्क अथवा 'निर्विचार समापत्ति' कह सकते हैं।

समापत्ति के मुख्य तीन अंग

(१) क्षीण वृत्ति = चित्त की निर्मलता

(२) तात्स्थ्य = चित्त की स्थिरता

(३) तदंजनता = चित्त की तन्मयता

संभेद प्रणिधान के समय चित्त की निर्मलता एवं स्थिरता की तथा अभेद प्रणिधान के समय चित्त की तन्मयता की प्रधानता होती है।

'तात्स्थ्य' अर्थात् ध्येय स्वरूप में स्थिरता संसर्गारोप से होती है। और तदंजनता अर्थात् ध्येय स्वरूप में तन्मयता अभेदारोप से होती हैं।

समापत्तिरिह व्यक्तमात्मनः परमात्मनि ।
अभेदोपासनारूपस्ततः श्रेष्ठतरो ह्ययम् ॥
(अध्यात्मसार योगाधिकार—श्लोक ५९)

विवेकी साधक सदा अभेदोपासना को लक्ष्य में रख कर परमात्मा की उपासना करते हैं।

ज्यों-ज्यों मन में से स्थूल भेद की दीवारें दूर होती जाती हैं त्यों-त्यों अभेद की कक्षा में पहुँचते जाते हैं।

शब्द-ब्रह्म से परं-ब्रह्म

अर्हमित्यक्षरं यस्य, चित्ते स्फुरति सर्वदा ।
परं ब्रह्म ततः शब्द-ब्रह्मणः सोऽधिगच्छति ॥

अर्थात् जिस साधक के हृदय में 'अर्हं' पद सदा स्फुरित रहता है वह समग्र शब्द-ब्रह्म (श्रुत-ज्ञान) के सारभूत 'अर्हं' पद से पर-ब्रह्म स्वरूप में तन्मयता एवं उससे क्रमशः परमात्म-पद प्राप्त करता है।

संभेद प्रणिधान में 'अर्हं' का अक्षरों के रूप में उपयोग होता है जिससे वह उपयोग ही 'शब्द-ब्रह्म' है और अभेद प्रणिधान में 'अर्हं' के साथ ज्ञानात्मक उपयोग के रूप में अभेद होने से उसे परं-ब्रह्म भी कहा जा सकता है।

स्थापना अरिहन्त की उपासना

□

प्रभु-मूर्ति की महिमा

□

स्थापना अरिहन्त अर्थात् श्री अरिहन्त परमात्मा की मूर्ति की उपासना द्रव्य एवं भाव-पूजा द्वारा होती है।

द्रव्य-पूजा पौद्‌गलिक भाव की आसक्ति नष्ट करती है और परमात्मा के प्रति भक्ति-भावना जागृत करती है, क्योंकि शुभ भाव उद्दीप्त करने में द्रव्य का विशेष महत्त्व है।

साँप, शेर आदि को देखते ही मनुष्य में भय का भाव उत्पन्न होता है, मनुष्य भयभीत होता है; जबकि श्री अरिहन्त परमात्मा की मूर्ति के दर्शन करने से उसमें शान्त भाव उत्पन्न होता है, उसके विकार शान्त हो जाते हैं।

श्री जिनेश्वर परमात्मा की मूर्ति में मन को मुग्ध करने की अपार शक्ति है। मुग्ध बना हुआ मन श्री जिन-गुण में लुब्ध होता है और उसके प्रभाव से लोभ कषाय क्षीण होता है अर्थात् मूर्ति की भक्ति से आत्म-ज्ञान होता है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्य-पूजा के द्वारा अशुभ संकल्प-विकल्प शान्त होते हैं, चित्त रूपी गगन राग-द्वेष के बादलों से रहित अर्थात् चित्त निर्मल व्योम सदृश हो जाता है और उसमें परमात्मा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है।

यदि पूजा में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य शुद्ध एवं श्रेष्ठ होते हैं, नीति से अर्जित धन से क्रय किये हुए होते हैं तो उनसे की जाने वाली पूजा अपूज्य

राग-द्वेष आदि दोषों को नष्ट करने में तुरन्त ठोस प्रभाव डाल कर उपासक के भाव को निर्मल करती है।

केवल पाँच कौड़ी के मनोहर, सुगन्धित पुष्पों के द्वारा उत्कृष्ट भाव से श्री जिन-पूजा करके महाराजा कुमारपाल ने इतना उत्तम पुण्य उपार्जित किया कि उसके उदय से अठारह देशों का साम्राज्य प्राप्त होने पर भी वे मोहासक्त नहीं हुए। वे सातों क्षेत्रों की उत्तम भक्ति करके सद्गति में गये, जहाँ से च्यव कर आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर श्री पद्मनाभ स्वामी के प्रथम गणधर होकर समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष में जायेंगे।

अतः मूल्यवान, सर्वोत्तम एवं न्यायोपार्जित वित्त से क्रय किये हुए द्रव्यों से भाव पूर्वक श्री अरिहन्त परमात्मा की भव्यातिभव्य प्रशम-रस-मग्न मूर्ति की पूजा करने का शास्त्रों में विधान है।

श्री अरिहन्त परमात्मा की निर्मल, निर्विकार एवं प्रशान्त मुद्रा के दर्शन करने से चाहे जितना अशान्त मन एक बार तो शान्त होकर उनके अलौकिक गुणों की ओर आकर्षित होता है। इस आकर्षण से परमात्मा के प्रति राग में निरन्तर वृद्धि होती है। इतना ही नहीं, परन्तु जब उपासक को सद्गुरु से यह ज्ञात होता है कि हमारी आत्मा में भी ऐसी ही प्रभुता प्रच्छन्न रूप में विद्यमान है, जो [प्रभुता[परमात्मा के प्रति अखण्ड आदर, सम्मान, श्रद्धा, भक्ति और उनकी परम पावन आज्ञा के विशुद्ध पालन से तथा उनके शुद्धात्म-द्रव्य और उनमें विद्यमान अनन्त गुणों के चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा परमात्म-स्वरूप में रमण करने से प्रकट होती है। उस समय परमात्मा की मूर्ति साधक को अद्भुत प्रकार से अपनी मोहनी शक्ति से मोहित करती है। उक्त मोहिनी महा मोह का नाश करती है और निर्मोही नाथ में हमें मुग्ध करती हैं।

कुतुबनुमा (Compass) को आप कहीं भी रखेंगे तो भी उसकी सुई उत्तर दिशा की ओर ही रहेगी; उसी प्रकार से श्री अरिहन्त परमात्मा की द्रव्य एवं भाव–पूजा में भव-भव का भय नष्ट करने का सामर्थ्य होने के शास्त्र-सत्य को अनुभव करने वाले साधक को कहीं भी जाना पड़ता है तो भी उसका मन जिन-सम्मुख ही रहता है।

परमात्मा की मूर्ति को हृदयस्थ करने की रीति

परमात्मा की किसी भी चित्ताकर्षक मूर्ति को नित्य निर्निमेष नेत्रों से देखते-देखते वह आकृति चित्त की गहराई में प्रतिष्ठित हो जाती है। यदि वहन आपके चित्त में प्रतिष्ठित नहीं होती हो और नेत्र बन्द करते ही वह आपकी दृष्टि के समक्ष नहीं आती हो तो मान लेना चाहिये कि आपने मूर्ति के दर्शन अनमने होकर किये हैं, एकाग्रचित्त होकर और निर्निमेष नेत्रों से नहीं किये।

नियम है कि जिस व्यक्ति को जिस कार्य अथवा पदार्थ में रुचि होत है उसे वह रुचिपूर्वक करता है, उस पदार्थ का सेवन वह पूर्ण एकाग्रता से करता है।

अत: श्री जिन-भक्ति में, श्री जिन-प्रतिमा की पूजा में रुचि नहीं होना महान् दुर्भाग्य का चिह्न है, रुचि होना महान् सौभाग्य का चिह्न है।

सौभाग्य के अभिलाषी व्यक्ति परम सौभाग्यशाली श्री अरिहन्त परमात्मा की मूर्ति की रुचि पूर्वक पूजा किये बिना रहते ही नहीं।

''जंकिंचि नाम तित्थं,
सग्गे पायालि माणुसे लोए;
जाइं जिण-बिंबाइं
ताइं सव्वाइं वंदामि।

इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार भगवन्त ने हमें त्रिलोक में विद्यमान सर्व (जिन) तीर्थों और सर्व जिन-बिम्बों को वन्दन करने की जो सुविधा कर दी है, वह बताती है कि हमारे जीवन का सर्वप्रथम कार्य श्री जिनेश्वर देव और उनकी प्रतिमा की द्रव्य एवं भाव से भक्ति करना ही होना चाहिये।

इस भयानक भव-सागर में भव्य जहाज के समान श्री जिन-प्रतिमा की पूजा उस भाव से करनी चाहिये, जिस भाव से डूबता हुआ मनुष्य प्रबल पुन्य

के प्रभाव से हाथ में आये लकड़ी के तख्ते को अपनी बांहों में पकड़ लेता है, अंक में समा लेता है, अपनी समस्त शक्ति से उसको समर्पित हो जाता है।

यह प्रतिमा मेरी ही आत्मा के परम स्वरूप की प्रति-कृति है यह समझ कर श्री जिन प्रतिमा की पूजा करने से भी हमारा चित्त सांसारिक तुच्छ पदार्थों से प्रभावित होने से बच जाता है और हमारे चित्त में अंकित हो जाती हैं — विश्वेश्वर वीतराग श्री अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा।

इस विश्व में भला ऐसा कौन है जो अपने परम स्वरूप की पूजा न करता हो, उसकी स्तवना न करता हो ?

अतः भव-क्षय-कारक, प्रवल पुष्ट भाव-वर्द्धक श्री जिन प्रतिमा के सतत मानसिक सम्पर्क में रहने के लिये नित्य अपूर्व उत्साह से परम तारणहार श्री जिन-प्रतिमा में स्वयं को अवलोकन करने से, स्वयं में श्री जिन-प्रतिमा को देखने का महान् कार्य सरल होता जाता है।

समापत्ति की सिद्धि

इस प्रकार नित्य प्रभु-भक्ति करने से चित्त की चंचलता मिटती है और चित्त ध्येय रूपी परमात्मा के ध्यान में स्थिर होता जाता है। धीरे-धीरे मूर्ति के बदले साक्षात् परमात्मा ही हमारे समक्ष हो—ऐसा अनुभव होने पर चित्त प्रसन्नता का आनन्द निरवधि बनता है। आगे जाकर 'वह परमात्मा मैं हूं' ऐसा अभेद ध्यान सिद्ध होता है और तब ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता से समापत्ति सिद्ध होती है।

इस प्रकार स्थापना अरिहन्त की आराधना करते हुए भाव-अरिहन्त में तन्मय होकर समापत्ति सिद्ध की जा सकती है।

स्थापना अरिहन्त द्वारा समापत्ति

श्री अरिहन्त परमात्मा की शान्त-रसमयी मनोहर मूर्ति भी श्री अरिहंत स्वरूप है, क्योंकि नाम एवं आकृति वस्तु के ही पर्याय होने से वस्तु के साथ

कथंचित् अभेद होता है। जैसे पुस्तक का नाम सुनकर पुस्तक का ही स्मरण होता है और पुस्तक का केवल चित्र देखने से पुस्तक की ही स्मृति होती है, किसी अन्य वस्तु की नहीं, क्योंकि पुस्तक का नाम और चित्र दोनों का पुस्तक के साथ अभेद है।

प्रतिमा द्वारा परमात्मा की पुण्य-स्मृति

श्री अरिहन्त परमात्मा का नाम उनका स्मरण कराता है, उसी प्रकार से उनकी पावन प्रतिमा भी उन अनन्त गुण-निधान परमात्मा की स्मृति कराती है। प्रसन्न मुख-मुद्रा, प्रशम रस-मग्न निर्विकार नेत्र-युगल, स्त्री-संग रहित देह, शस्त्र विहीन कर-कमल और परम योगी पुरुष का ध्यान दिलाने वाली पद्मासन स्थित देह की शोभा निहार कर अनायास ही परमात्मा में विद्यमान वीतरागता, वीतद्वेषिता, निर्विकारता, प्रशान्तता, प्रसन्नता आदि उत्तम गुणों का पूर्ण ध्यान आता है।

इन गुणों पर ज्यों-ज्यों गहरा चिन्तन करें त्यों-त्यों उन गुणों को प्रकट करने में कारणभूत परोपकार-परायणता आदि अनेक गुणों का हमें बोध होता है।

यद्यपि श्री अरिहन्त परमात्मा के अनन्तानन्त गुणों को केवल केवली भगवन्त अथवा विशिष्ट ज्ञानी ही देख अथवा जान सकते हैं, हमारे समान पामर व्यक्ति तो केवल चंचु-पात ही कर सकते हैं; तो भी इतनी सुचेष्टा के प्रभाव से भी हमारे हृदय में श्री अरिहन्त परमात्मा के अनन्तानन्त गुणों के प्रति अनन्य श्रद्धा उत्पन्न होती है। 'जो जिसके गुण गाता है, वह उसके जैसा हो जाता है'—के अनुसार श्री अरिहन्त परमात्मा के गुण गाते-गाते हम तन्मयता से समापत्ति के अधिकारी बनते हैं।

रूपी प्रतिमा द्वारा परमात्मा के अरूपी गुणों का परिचय

श्री अरिहन्त परमात्मा में विद्यमान वीतरागता आदि गुण यद्यपि अरूपी हैं, फिर भी परमात्मा की पावनकारी प्रतिमा के दर्शन उन अरूपी गुणों का साक्षात्कार कराने में पूर्ण सहायक होते हैं।

जिस प्रकार ज्ञान अरूपी होते हुए भी अक्षरों के द्वारा व्यक्त होता है, उसी प्रकार से श्री अरिहन्त परमात्मा की मूर्ति के द्वारा उनके गुण व्यक्त होते हैं। इसीलिये पूज्य आगमों में श्री जिन प्रतिमा को श्री जिनेश्वर भगवान तुल्य मानी है।

साक्षात् श्री अरिहन्त परमात्मा के दर्शन, वन्दन, पूजन अथवा ध्यान करने से आत्म-विशुद्धि-रूप जैसा फल प्राप्त होता है, वैसा ही फल उनकी प्रतिमा के दर्शन, वन्दन, पूजन अथवा ध्यान से प्राप्त हो सकता है।

इसलिये ही तो कहा है कि यदि अमूर्त आत्मा के मूर्ति-मन्त स्वरूप को निहारना हो तो श्री जिन-मूर्ति को निहारो। वह आत्मा के अखण्ड स्वरूप की परम मंगलमयी प्रति-कृति है।

मूर्ति द्वारा ध्यान में तन्मयता

भव्यात्मा को श्री अरिहन्त परमात्मा की मूर्ति के दर्शन से उनकी पूर्ण प्रभुता का ज्ञान होता है और परमात्मा में एवं स्वयं में आत्म-द्रव्य की समानता होने से स्व आत्मा में भी वैसी ही प्रभुता होने का ज्ञान होता है।

इस प्रकार का ज्ञान होने से उसे धन-लोलुप व्यक्ति को अपने खोये हुए धन का पता लगने पर जो हर्ष होता है, उससे सवा गुना हर्ष होता है। इस पर प्रभुता प्रकट करने की उसकी रुचि होती है और रुचि के अनुसार ही प्रवृत्ति करने का उसमें वीर्योल्लास जागृत होता है। इसके अनुसार वह अपनी प्रभुता का ज्ञान कराने वाले परमात्मा और उनकी प्रतिमा को अत्यन्त आदरणीय मान कर अनन्य भाव से उनकी भक्ति में अपनी श्रेष्ठतम शक्ति को समर्पित करता है।

ऐसी उत्कट भक्ति से वीर्योल्लास में वृद्धि होने पर तन्मयता सिद्ध होती है और ध्याता स्वयं को ध्येय-स्वरूप अनुभव करता है।

श्री जिन-प्रतिमा के ध्यान में एकात्म बने ध्याता को आन्तरिक ज्योति का रोमांचकारी अनुभव होता है। वह ज्योति ज्ञानमय है, आत्मामय है।

वस्तुतः तीनों की एकरूपता का अनुभव ही परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन है और यही सम्यग्-दर्शन है।

सिद्ध परमात्मा का साकार ध्यान

'लोगस्स' सूत्र में चौबीस जिनेश्वर देवों का 'नाम-कीर्तन' किया गया है, अतः वह 'नामस्तव' कहलाता है। उसकी अन्तिम गाथा में सिद्ध परमात्मा का साकार ध्यान करने की अद्भुत कला स्पष्ट की है।

गाथा :— चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥

इस गाथा में वर्णित भाव के अनुसार निरंजन, निराकार, अरूपी, ज्योतिर्मय सिद्ध स्वरूप का ध्यान असंख्य चन्द्रमाओं की निर्मलता, असंख्य सूर्यों की प्रकाशमयता एवं असंख्य समुद्रों की गम्भीरता से भी अधिक निर्मल, प्रकाशमय एवं गम्भीर श्री सिद्ध परमात्मा की मूर्ति का ध्यान किया जा सकता है। उसमें लीन होने से अरूपी ज्योतिर्मय शुद्ध स्वरूप का आंशिक अनुभव हो सकता है।

सम्यग्-दर्शन चन्द्रमा के समान निर्मल है, सम्यग्-ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशमय है और सम्यग्-चारित्र सागर के समान गम्भीर है। इस रत्नत्रयी की पूर्णता को प्राप्त सिद्ध परमात्मा का यथार्थ स्वरूप सचमुच अकल्पनीय होते हुए भी मुमुक्षु साधक उनके नाम और मूर्ति के आलम्बन द्वारा सरलतापूर्वक स्व साध्य को सिद्ध कर सकते हैं।

नाम एवं स्थापना अरिहन्त की उपासना के द्वारा जिन-भक्ति का प्रधान फल

'प्रतिमा शतक' में बताया गया है कि नाम अरिहन्त एवं स्थापना अरिहन्त के प्रभाव से भाव-अरिहन्त के साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

जब श्री जिनेश्वर परमात्मा के निरन्तर नाम स्मरण द्वारा अथवा उनकी मनोहर मूर्ति के सतत ध्यान द्वारा चित्त शान्त होता है, तब मानों भगवान् स्वयं सम्मुख खड़े हों—ऐसा भक्त को आभास होता है*; इतना ही नहीं परन्तु मानों भगवान हृदय में प्रवेश कर रहे हों और हृदय-मन्दिर में विराजमान होकर मानों भक्त को मधुर वाणी में पुकार रहे हों—ऐसा आभास होता है।

तत्पश्चात् एकाग्रता में वृद्धि होने पर मानों भक्त की सम्पूर्ण देह में वे व्याप्त हो गये हों तथा तन्मयता आ गई हो ऐसा अनुभव भक्त को होने लगता है। उस समय ध्याता, ध्येय एवं ध्यान तीनों की एकरूपता होने से 'समापत्ति' अर्थात् सम-रसिकता की प्राप्ति होती है। ध्याता अपनी आत्मा को परमात्म-स्वरूप में अनुभव करता है। यही आत्म-दर्शन है जो श्री जिन-भक्ति का प्रधान फल है।

इस प्रकार स्थापना अरिहन्त द्वारा भी समापत्ति सिद्ध होती है और जीवन में परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है, जो मानव-जीवन की महान् उपलब्धि है।

इसलिये ही तो गणधर भगवंत आदि महर्षियों द्वारा विरचित आवश्यकादि सूत्रों में स्थापना (मूर्ति-रूप) अरिहन्त भगवंत की वन्दन आदि द्वारा उपासना करने का विधान है।

'अरिहन्त चेइयाणं' सूत्र में श्री अरिहन्त परमात्मा के चैत्यों की मूर्त्तियों को किये जाने वाले वंदन, पूजा, सत्कार, सम्मान का लाभ प्राप्त करने के लिये तथा मोक्ष-प्राप्ति के सात निमित्तों से वृद्धि होने वाली श्रद्धा, मेधा (निर्मल बुद्धि), धृति, धारणा एवं अनुप्रेक्षा (चिन्तन) पूर्वक कायोत्सर्ग करने का विधान है।

---

* नामादित्रये हृदयस्थिते सति भगवान् पुर इव स्फुरति।
—प्रतिमा शतक, पू. उपा. यशोविजयजी म०

सूरि-पुरन्दर श्री हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज ने 'ललित विस्तरा' ग्रन्थ में स्थापना अरिहन्त की भक्ति के लिये अत्यन्त मर्म-स्पर्शी शैली में विवेचन किया है।

'जावंति चेइआइं' सूत्र में ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्च्छा लोक में स्थित जिन-बिम्बों को नमस्कार करने का विधान है। यह सूत्र तीनों लोकों में भव्य जीवों को महान् आलम्बन के रूप में जिन प्रतिमाएँ होने और वे सब वन्दनीय होने का ठोस प्रमाण देता है।

'जग चिन्तामणि' सूत्र के द्वारा तीनों लोकों में स्थित शाश्वत चैत्यों एवं शाश्वत प्रतिमाओं को वन्दन किया जाता है और श्री शत्रुजय आदि विद्यमान तीर्थों में स्थित अत्यन्त प्रभावशाली प्रतिमाओं को नमस्कार किया जाता है।

इस प्रकार सूत्रों की रचना से भी स्थापना अरिहन्त परमात्मा के असीम उपकार का स्पष्ट ख्याल आता है।

मूर्त्ति का महत्व

ज्ञान के गूढ़तम रहस्य को समझने के लिये प्रत्येक देश के विद्वानों ने सांकेतिक चित्रों के द्वारा, संकेतों के द्वारा, गूढ़ाक्षरों के द्वारा, गूढ़ शब्दों के द्वारा, रूपकों के द्वारा, कथाओं के द्वारा और मूर्त्तियों के द्वारा प्रयास किया है। इन सब में मूर्त्ति-पूजा के विधान में सूक्ष्म दृष्टि एवं बुद्धि का जितना प्रभाव है उतना अन्य में नहीं है।

ज्ञान को जानने का द्वार शब्द जो मूर्त्ति है तो फिर ज्ञान-स्वरूप परमात्मा को जानने का द्वार भी मूर्त्ति (image) ही होना स्वाभाविक है।

मूर्त्ति के दर्शन-पूजा में विश्वास नहीं रखने वाले भी अपने विचार. दूसरों को समझाने के लिये अक्षरात्मक मूर्त्तियों का ही आश्रय लेते हैं, क्योंकि उनके विचारों का प्रतिपादन करने वाली पुस्तकें निराकार विचारों को स्पष्ट करने वाली एक प्रकार की मूर्त्तियाँ ही हैं।

थोड़े में अधिक अर्थ समझाने का कार्य आकृति अथवा मूर्त्ति के द्वारा ही हो सकता है। मूर्त्ति-पूजक मूर्त्ति को परमात्मा मान कर ही नहीं रुक जाते, वरन् उस मूर्त्ति के द्वारा जिस प्रकार शब्दों के पठन, मनन द्वारा वस्तु के विषय का बोध होता है, उसी प्रकार अमूर्त, अगम्य परमात्म-तत्त्व का बोध ग्रहण करते हैं।

लाखों-करोड़ों मीलों के विस्तार में फैली पृथ्वी का ज्ञान विद्यार्थियों को चार अथवा पाँच सम-चौरस फुट नक्शे के द्वारा कराया जा सकता है अथवा गगन में उगे द्वितिया के चन्द्रमा को देखने के लिये मनुष्य को छत पर अथवा वृक्ष की चोटी पर प्रारम्भ में अपनी दृष्टि जमानी पड़ती है।

तात्पर्य यह है कि अत्यन्त स्थूल अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु का ज्ञान कराने के लिये मध्य में स्थूल पदार्थ का आश्रय इस विश्व में समस्त बुद्धिमान पुरुषों को यदि सर्वत्र लेना ही पड़ता है तो फिर स्थूल से भी स्थूल '(ज्ञान स्वरूप में लोकालोक में व्याप्त) और सूक्ष्म से भी सूक्ष्म (आकृति द्वारा सर्वथा अमूर्त) परमात्मा का ज्ञान कराने के लिये विश्व-हित-चिन्तक महर्षियों को अनादि-कालीन मूर्त्ति-पूजा के विधान को यथार्थ बताना पड़े तो आश्चर्य ही क्या है।'

(पू० पं० श्री भद्रकंर विजयजी गणिवर)

मूर्त्ति का ऐसा उपकारक महत्त्व जानने के पश्चात् अब उसका वैसा ही प्रभाव देखें और समझें।

प्रति वासुदेव जरासंघ ने जब वासुदेव श्री कृष्ण की सेना पर जरा नामक विद्या छोड़ी तब उक्त सेना जरा-ग्रस्त, अशक्त, मूर्च्छित सी हो गई। उस समय श्री कृष्ण के पूछने पर बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ स्वामी ने कहा कि—'भावी तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु की प्रभावशाली प्रतिमा धरणेन्द्र से प्राप्त करके उसका पक्षाल सेना पर छिड़का जाये तो सेना तुरन्त जरा-मुक्त हो जायेगी।'

उसी भव में तारणहार तीर्थं की स्थापना करके समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष-गामी श्री नेमिनाथ प्रभुजी के निर्देशानुसार श्री कृष्ण ने धरणेन्द्र

से श्री पार्श्वनाथ प्रभु की महान् प्रभावोत्पादक प्रतिमा प्राप्त करके उसका पक्षाल-जल अपनी सेना पर छिड़का और सेना की मूर्च्छा समाप्त हो गई।

यह घटना श्री जिन-मूर्त्ति के अचिन्त्य प्रभाव की द्योतक है।

इस प्रकार की अनेक घटनाओं का उल्लेख श्री जिन-प्रणीत शास्त्रों में स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार स्थापना-अरिहन्त परमात्मा भी परमात्म-भाव उत्पन्न करके भव्य जीवों को भयानक भव-सागर से पार करने में जहाज-स्वरूप होते हैं।

श्री जिनराज की मूर्त्ति श्री जिनराज तुल्य

शास्त्र फरमाते हैं कि "जिन-पड़िमा जिन सारिखी", अर्थात् श्री जिनेश्वर देव तुल्य हैं और जिससे शास्त्रों ने श्री जिन-प्रतिमा को सर्वोत्तम उपमाओं के द्वारा उत्तम अंजलियाँ प्रदान की हैं। जैसे—

- श्री जिन-प्रतिमा शान्त-सुधा-रस-सागर तुल्य है।
- अखण्ड, अनुपम लोकोत्तर प्रभुता की प्रति-मूर्त्ति है।
- विषय-कषाय से संतप्त जीवों को सच्ची शीतलता प्रदान करने में पुष्करावर्तमेघ तुल्य है।
- निस्तन्द्रावस्था के चरम शिखर स्वरूप है।
- परम कल्याण-केन्द्र के सघन स्वरूप है।
- वीतरागता की परिपूर्ण व्याख्या की अद्भुत आकृति है।
- समस्त अलौकिक भावों के निधान स्वरुप है।
- आत्म-चन्दन पर लिपटे कर्म-साँपों को दूर करने मे मयूर तुल्य है।

इस प्रकार की अनेक उपमाओं के द्वारा शास्त्रकार महर्षियों ने श्री जिन-प्रतिमा का गुण-गान करने के पश्चात् कहा है कि 'भव-ताप-हारी ये

प्रतिमा सचमुच अनुपम है परन्तु हमारी भक्ति की शक्ति के अनुसार उपमा देकर हम सन्तोष मानते हैं ।

सचमुच, परमात्मा का रूपी, साकार स्वरूप श्री अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा में दृष्टिगोचर होता है । सम्पूर्ण परमात्म-स्वरूप का हृदय को उल्लासित बनाने वाला दर्शन श्री अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन में होता है ।

यदि ये प्रतिमा न होती तो भव्य जीव किसका आलम्बन लेकर ऊपर चढ़ते ? परम त्याग, वैराग्य एवं मैत्री के महासागर में किस प्रकार दिल भर कर आनन्द मानते ? और प्रभु की प्रभुता के पीछे किस प्रकार दीवाने बनते ?

प्रभु की प्रभुता के पीछे सर्वस्व न्योछावर करने का शास्त्र बोध जीव इतनी तीव्रता से ग्रहण नहीं कर पाते, जितनी तीव्रता से वे वह बोध प्रभुजी की प्रतिमा के दर्शन से ग्रहण कर सकते हैं ।

छोटा बच्चा भी श्री जिन-प्रतिमा को निरख कर हर्षित होता है, परन्तु शास्त्र सुनकर उसे वैसा हर्ष मुश्किल से ही होता है ।

तात्पर्य यह है कि प्रभु की प्रभुता का ज्ञान और भान हुए बिना प्रभु के प्रति पूर्ण सद्भाव प्रकट नहीं होता । उस प्रकार के सद्भाव के बिना असद्भाव मिटता नहीं और परमात्म-स्वरूप को प्राप्त करने की रुचि उत्पन्न नहीं होती । उस रुचि के अभाव में परमात्म-ध्यान द्वारा परमात्मा के साथ तन्मयता-स्वरूप समापत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती, और समापत्ति सिद्ध हुए बिना परमात्म-तत्त्व की अनुभूति स्वरूप अनुभव ज्ञान का अपूर्व, अलौकिक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता ।

भक्ति मुक्ति-दूती है

परमात्म भक्ति के बिना किसी भी प्राणी को कदापि मुक्ति प्राप्त हो ही नहीं सकती । अतः पू० उपाध्याय भगवंत श्री यशोविजयजी महाराज ने फरमाया है कि—

सारमेतद् मया लब्धं,
श्रुताब्धेरवगाहनात् ।
भक्तिर्भागवती बीजं,
परमानन्दसम्पदाम् ॥

अर्थात् भक्ति परमानन्दमयी सम्पत्ति का बीज रूप सार है जो मैंने सकल श्रुत-सागर का मंथन करके निकाला है ।

मुक्ति की दूति के रूप में अपना कर्त्तव्य, धर्म पूर्ण करने में भक्ति कदापि पीछे नहीं रही ।

इस प्रकार की भक्ति प्रभु के प्रतिबिम्ब स्वरूप मनोहर मूर्त्ति के आलम्बन से विशेष रूप में प्रकट होती है ।

उत्तम आदर्श को दृष्टि के समक्ष रखे बिना आन्तरिक श्रेष्ठता प्रकट नहीं होती । इसलिये ही शूर-वीरता उत्पन्न करने के लिये सैनिकों को उस प्रकार का संगीत सुनाया जाता है । उसी प्रकार से समस्त रसों में प्रधान शान्त रस को जागृत करने के लिये प्रशान्त सागर के अर्क स्वरूप श्री जिन-प्रतिमा को दृष्टि के समक्ष रखनी अथवा उस प्रतिमा में अपनी दृष्टि गड़ानी वह युक्ति-संगत तथ्य है ।

भक्त की एक मात्र कामना

प्रभु-भक्ति में ओत-प्रोत भक्त की भव-परम्परा सर्जक पौद्गलिक भाव की आसक्ति तोड़ने की, असद्वृत्ति का उन्मूलन करने की, परमात्मा को हृदयेश्वर बनाने की और तुच्छ स्वार्थ की सीमाओं को पार करके परार्थ-परायणता के चरम शिखर पर पहुँचने की कामना होती है ।

इस प्रकार का भक्त यही सोचता है कि श्री अरिहन्त परमात्मा सच-मुच परम करुणा निधि हैं, परम दयानिधान हैं, इसलिये ही वे रूपी बने, मूर्त्ति के रूप में साकार बने, जिनका आलम्बन लेकर अनेक मनुष्य इस भीषण

भव-सागर को पार कर गये हैं, तथा पार जा रहे हैं, जीव की चार गति स्वरूप संसार में रुलाने वाले राग, द्वेष एवं मोह पर विजय प्राप्त कर सके हैं और उसी दिशा में बढ़ रहे हैं।

स्थापना निक्षेप की उपकारकता

इससे सरलतापूर्वक समझा जा सकता है कि स्थापना निक्षेप कितना उपकारी है। यह पंचम काल की भँवर में भटकते भव्य जीवों को परमात्म स्वरूप के दर्शन द्वारा आत्म-स्वरूप का दर्शन कराने में कितना महत्त्वपूर्ण योग-दान करता है ?

जिस व्यक्ति ने एक बार भी शुद्ध-आत्म-स्वरूप के दर्शन किये हों, उसे अपने शुद्धात्म-स्वरूप के प्रकटीकरण के लिये कितनी तीव्र उत्कंठा जागृत होती है ?

यह तीव्र उत्कंठा उसकी साधना में प्राणों का संचार करती है, भव-स्थिति के परिपाक में नींव का काम करती है, जिससे साधक निज साध्य-स्वरूप परमात्म-पद को शीघ्र उपलब्ध करने में भाग्यशाली होता है।

द्रव्य अरिहन्त की उपासना

□

सिद्ध स्वरूप का ध्यान

□

रूपातीत अवस्था अर्थात् सिद्ध अवस्था जो भाव-अरिहन्त परमात्मा की उत्तरावस्था है, अर्थात् भूतकाल में हुए अनन्त अरिहन्त जो सिद्धशिला पर सिद्ध अवस्था में विराजमान हैं वे समस्त सिद्ध भगवन्त भी 'द्रव्य-अरिहन्त' कहलाते हैं।

इस प्रकार के द्रव्य अरिहन्त स्वरूप सिद्ध परमात्मा की ध्यान आदि उपासना द्वारा साधक निरंजन-निराकार ज्योति स्वरूप सिद्ध परमात्मा के ध्यान में लीन होकर समापत्ति सिद्ध कर सकता है।

* 'उपदेश-पद (वृत्ति)' में सिद्ध भगवन्त के ध्यान की एक प्रक्रिया देखने को मिलती है।

सुदर्शन सेठ को जब अभया रानी ने सानुकूल उपसर्ग किया, तब ध्यान कला के प्रकाण्ड अभ्यासी सुदर्शन सेठ ने अपने मन को 'प्रत्याख्यान

---

* सो सविसेसं पच्चक्खाण ठाणे मणं निरुंभित्ता सिद्धिसिलोवरि सरदेन्दु-कुंद-संखु-ज्जलच्छाए ॥ ९४ ॥

अप्पाणं ठावित्ता तद्देश समीववत्तिणो सिद्धे धुणिया सेस किलेसे निउणं परिचिंतउं लग्गो ॥ ९२ ॥ (उपदेश पद वृत्ति–पृष्ठ सं. २६२)

स्थान' (संयम स्थान) में स्थिरतापूर्वक रौंद कर सिद्ध-शिला पर विराजमान शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान, मचकुन्द के पुष्प के समान एवं शंख के समान कान्ति वाले, समस्त क्लेश-रहित सिद्धों के स्वरूप में अपनी आत्मा को स्थापित करके निपुणतापूर्वक ध्यान लगाया जिससे उनके मन में लेश मात्र भी काम-विकार उत्पन्न नहीं हो सका।

ध्यान की शक्ति का प्रभाव

सिद्ध भगवन्त के ध्यान में तन्मय बने साधकों पर वाह्य वातावरण का तनिक भी प्रभाव नहीं हो सकता। ध्यान की अद्‌भुत सिद्धि का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इससे सुज्ञ साधक अच्छी तरह समझ सकते हैं कि परमात्मा श्री महावीर स्वामी जी, खंधक मुनि, मेताराज मुनि, गज सुकुमाल मुनि आदि ने जो कठोर उपसर्ग समता पूर्वक सहन किये, वह उनकी प्रवल ध्यान-शक्ति का ही प्रभाव था, शुद्ध आत्म-ध्यान का ही प्रभाव था।

धारणा-ध्यान एवं समाधि का प्रयोग

उपदेश पद वृत्ति के उक्त श्लोक में ध्यान की कितनी कुञ्जियें छिपी हुई हैं? जिस प्रकार सुदर्शन सेठ ने धारणा, ध्यान एवं समाधि-योग का प्रयोग सिद्ध किया था, उसका सुन्दर ज्ञान ग्रन्थकार महर्षि हमें यहां कराते हैं :—

(१) धारणा योग :—'पच्चक्खाण ठाणे मणं सविसेसं निरूंभित्ता', ये पंक्तियें धारणा योग की सिद्धि की सूचक हैं।

* किसी एक ध्येय में चित्त को स्थिर करना, लगा देना यही धारणा है।

---

* धारणा तु क्वचिद् ध्येये, चित्तस्य स्थिरबन्धनम्।

'प्रत्याहार' सिद्ध करने के पश्चात् ध्यान के अभ्यासी को प्रथम धारणा सिद्ध करनी पड़ती है। उसके बिना ध्यान-योग में प्रवेश नहीं हो सकता। यहाँ 'प्रत्याख्यान-स्थान' अर्थात् 'संयम-स्थान' में मन को स्थिर करने का निर्देश है। अतः सत्रह* प्रकार प्रकार के असंयम से चित्त-वृत्तियों को हटा कर सत्रह प्रकार के संयम में उन्हें स्थिर करना चाहिये।

साधु असंयम से सर्वथानिवृत्त होता है और श्रावक सामायिक, पौषध आदि में देश से (अंशतः) निवृत्त होता है। वह शक्ति के अनुसार अंगीकार किये व्रत-नियम आदि का स्मरण करके उनमें अपना मन स्थिर कर देता है जिससे चित्त की चंचलता शान्त हो जाती है।

(२) ध्यान योग :—"अप्पाणं ठावित्ता निउणं परिचिंतिउं लग्गो" सिद्ध भगवन्तों के स्वरूप में आत्मा को स्थापित करके निपुणता पूर्वक ध्यान करने का विधान अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है। * सात राज्य दूरस्थ सिद्ध भगवन्तों का ध्यान भी पराभक्ति के द्वारा हृदय में उनकी स्थापना करने से हो सकता है। उस सम्बन्ध में शास्त्र-वचनों की निम्न विचारधारा अत्यन्त उपयोगी है—

(अ) मनुष्य-क्षेत्र का प्रमाण 45 लाख योजन है, उसी प्रकार से सिद्ध-शिला का प्रमाण भी 45 लाख योजन है। अतः वह मनुष्य लोक के ढक्कन के समान है। भूतकाल में अनन्त आत्मा यहां से सम श्रेणी में सिद्ध होकर सिद्ध-शिला पर स्थिर हुई हैं। मनुष्य लोक के एक प्रदेश जितना स्थान भी ऐसा नहीं है कि जहां से अनन्त आत्मा सिद्ध न हुई हों, क्योंकि 'एक अवगाहने सिद्ध अनन्ता'—एक सिद्ध की अवगाहना में अन्य अनन्त सिद्ध होते हैं। ज्योति में ज्योति मिलने की तरह वे परस्पर मिल जाते हैं।

---

* इन्द्रिय—कषाय—अव्रत—अशुभयोग = असंयम
५ ४ ५ ३ १७

* सात राज अलगा जई बैठा, पण भक्ते अम मन मां पेठा

(पू० उपा० श्री यशोविजय जी म०)

इससे स्पष्ट है कि जहाँ से एक जीव मोक्ष में जाता है वहाँ से भूतकाल में अनन्त जीव सिद्ध हो चुके हैं, यह जान कर जिस स्थल पर ध्याता होता है उस स्थल पर समीपवर्ती सिद्धों का ध्यान कर सकता है।

(आ) मानव-देह के आकार से लोक की तुलना करते हुए मस्तक के स्थान पर (ब्रह्मरंध्र) सिद्ध–शिला आती है। उस पर स्थित अनन्त सिद्धों के निर्मल स्वरूप का चिन्तन करने से तन्मयता हो सकती है और उस ध्यान के प्रभाव से सिद्धों से साक्षात्कार होता है।

(३) समाधि–योग:—'जारिसो सिद्ध सहावो, तारिसो होइ सव्व जीवाणं' समस्त जीवों का स्वभाव सिद्धों के समान है तथा नैगम नय से आठ रूचक प्रदेश निर्मल होने से समस्त जीव सिद्धों के समान हैं।

इस प्रकार स्व-आत्मा को सिद्ध समान मान कर ध्यान के बल से अनन्त जीवों के सिद्धता रूपी महा सागर में मिल कर अक्षय, अभंग भाव प्राप्त करने को ही 'समाधि' कहते हैं। ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकतारूप 'समापत्ति' सिद्ध होने पर आत्मा परमसमाधि (समता) रस प्राप्त करती है।

सुदर्शन सेठ ने समाधि में ही लीन होकर समस्त रात्रि निर्विकार रूप में व्यतीत की। समाधि-योग के प्रभाव से अभया रानी की नाना प्रकार की कुचेष्टाओं का उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ।

"सिरि सिरिवाल कहा" में भी सिद्धों का स्वरूप विचार कर उनके ध्यान में तन्मय होकर स्व-आत्मा को सिद्ध के रूप में भावित करने का निर्देश है।

सिद्ध भगवंत जब अष्ट कर्मों का क्षय करके मोक्ष में जाते हैं उस समय समयान्तर एवं प्रदेशान्तर का स्पर्श किये बिना एक ही समय में चरम देह से दो-तिहाई अवगाहना प्रमाण आकाश प्रदेशों को सम श्रेणी में स्पर्श करके ऊर्ध्व गति से सिद्ध-शिला पर उतनी अवगाहना में बिराजमान होते हैं।

इस प्रकार सोचकर ध्याता भी अपने प्राण, मन एवं चेतना को ब्रह्म-रंध्र में स्थापित करता है।

पूर्व प्रयोग, गति परिणाम, बन्धन-छेद एवं असंगता के कारण सिद्धों का ऊर्ध्व-गमन होता है।

उसी प्रकार से सुसाधक भी सिद्ध स्वरूप के ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिये प्रथम पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ ध्यान के द्वारा अरिहन्त परमात्मा का सालम्बन ध्यान करके प्रबल वेग प्राप्त करते हैं; जिससे राग-द्वेष की ग्रन्थि का उच्छेद होकर देहाध्यास छूट जाता है तथा असंग दशा को प्राप्त चेतना ब्रह्म-रंध्र में प्रवेश करती है। उस समय लोक के शिखर पर निर्मल सिद्ध-शिला पर आदि-अनन्त स्थिति में विद्यमान सिद्ध भगवंतों का ध्यान (ब्रह्म-रंध्र को सिद्धशिला और आत्मा को सिद्धात्मा मान कर) करने से अवर्णनीय अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। सिद्ध-शिला यहाँ से सात राज दूर है, उसी प्रकार से देह में आत्म-बुद्धि से जीने वाले के लिये निकटतम आत्मा भी भाव से इतनी ही दूर है और जो तत्त्व जीवी हैं, शुद्ध आत्म-स्वभाव में मग्न हैं, सामायिक को अपना जीवन बना सके हैं वे अपनी उक्त कक्षा के द्वारा यहाँ बैठे भी सिद्ध-शिला पर विराजमान सिद्ध आत्मा के सहज आनन्द का नमुना चख सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस तरह ज्योति में ज्योति मिल जाने से सिद्ध भगवंत समस्त उपाधियों से रहित होकर सहज समाधि में सतत रमण करके अनुपम सुख के भोक्ता बने हैं, उसी प्रकार से साधक असंख्य चन्द्रमाओं से अधिक निर्मल ज्ञान-ज्योति में स्व-ज्ञान-ज्योति का विलय करके समस्त बाह्य उपाधियों से सर्वथा मुक्त सहज समाधि प्राप्त करके अनुपम सुख का भोक्ता होता है।

सच्चिदानन्द-पूर्ण परमात्मा केवलज्ञान से समस्त जीवों को पूर्ण शुद्ध स्वरूप में देखते हैं, उसी प्रकार से सम्यग्-दृष्टि साधक श्रुत-ज्ञान द्वारा निश्चय दृष्टि से स्व-आत्मा को पूर्ण देखता है।

रुवाइय सहावो–केवल सन्नाणदंसणाणंदो।
जो चेवय परमप्पा-सो सिद्धाण नत्थि संदेहो ।।

जो रूपातीत स्वभाव वाले केवलज्ञान, दर्शन एवं आनन्दमय परमात्मा हैं वे ही सिद्धात्मा हैं। उनके ध्यान में तन्मय बनने से स्व आत्मा भी सिद्ध बनती है, यह निस्संदेह है।

श्री सुमतिनाथ भगवान के स्तवन में योगिवर्य श्री आनन्दघनजी ने भी आत्म-समर्पण का अद्‍भुत रहस्य समझाया है; बाह्यात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के लक्षण बताकर परमात्म-भावना प्रकट करने का सुन्दर उपाय बताया है।

"बहिरातम तजि अंतर आत्मा, रूप थई थिरभाव सुज्ञानी।
परमातमनु आतम भाववुं, आतम अरपण दाव सुज्ञानी॥
सुमति चरणकज आतम अरपणा..................

बहिरात्मभाव (मैं देह हूँ, धन, स्वजन आदि मेरे हैं, यह वृत्ति) का त्याग करके, अन्तरात्म भाव (मैं आत्मा हूँ, देह आदि का साक्षी मात्र हूँ, यह वृत्ति) को स्थिर करके परमात्मा के पूर्णानन्दमय स्वरूप के चिन्तन-मनन से आत्मा में पुनः पुनः भावना उत्पन्न करनी चाहिये, जिससे आत्म-समर्पण की योग्यता प्रकट होती है।

अपनी नाभि में ही विद्यमान कस्तूरी की सुगन्ध से अज्ञात मृग उस सुगन्ध की खोज में जंगलों में सतत दौड़ता रहता है, उसी प्रकार से हम भी आत्मा में विद्यमान परम सुख से अज्ञात हैं और उसकी शोध में निरन्तर बाह्य जगत् में दौड़-धूप कर रहे हैं। इस दौड़-धूप का ही दूसरा नाम बाह्यतम दशा है।

आत्मा की दिशा में दृष्टि रख कर कदम बढ़ाने से यह बहिरात्म-दशा दूर होती है, अर्थात् अन्तरात्म-भाव में प्रवेश किया जा सकता है।

इस प्रकार का आत्मारामी जीव अपनी आत्मा की परम अवस्था का निरन्तर चिन्तन करता रहे, "हे आत्मन्! तू परमात्मा है, सच्चिदानन्दघन है, उसके अतिरिक्त अन्य सब कर्म-कृत हैं, कर्म-दत्त हैं, जो तेरा अंगभूत नहीं हैं।" इस प्रकार की भावना का निरन्तर अपनी आत्मा पर आरोप करता रहे, यही आत्म-समर्पण की सच्ची रीति है।

आत्मा अपने परम स्वरूप को समर्पित हो, उसका परिणाम क्या होता है वह हम श्री आनन्दघन जी के शब्दों में देखें—

"आतम अरपण वस्तु विचारतां,
भरम टले मति दोष, सुज्ञानी ।

परम पदारथ संपत्ति संपजे,
आनन्दघन रस पोष, सुज्ञानी ।।

आत्म-समर्पण के रहस्य का विचार करने से अनादि का मति विभ्रम अर्थात् मैं देह से अभिन्न हूँ और परमात्मा से भिन्न हूँ—इस प्रकार की मोह-जनित बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है । आँखों की पट्टी दूर होने पर संसार दिखाई देने लगता है, उस प्रकार से इस मति-विभ्रम, बुद्धि का अंधत्व दूर होने पर परमानन्द से परिपुष्ट परम तत्त्व-सम्पत्ति प्राप्त होती है ।

आत्म-समर्पण का रहस्यमय सत्य सद्गुरु की कृपा से ज्ञात होता है–यह बात श्री आनन्दघन जी फरमाते हैं—

"प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करे,
देखे परम निधान !
हृदय नयन निहाले जग-धणी
महिमा मेरु समान जिनेश्वर !
धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंगसुं ।"

सर्वाधिक भाव-दया की वृष्टि करने वाले श्री जिनेश्वर देव की वाणी रूपी अमृत को आत्मसात् करने वाले सुगुरु यदि उस वाणी का अंजन लगायें तो हमारी आत्मा ही अनेक गुणों का आगार बन जाये ।

प्रवचन रूपी अंजन का समस्त रहस्य "दलतया परमात्मा एव जीवात्मा" अर्थात् 'द्रव्य से जीवात्मा ही परमात्मा है' इस शास्त्र वचन को आत्मसात् करने से प्राप्त किया जा सकता है ।

१—स्फटिक मणि की तरह आत्मा स्वभाव से निर्मल है । प्रबल कषाय का आवरण दूर होने पर नीर-क्षीर के न्याय से आत्म-प्रदेशों में भरा हुआ भाव-मल कटने पर आत्मा को अपने इस स्वभाव की अनुभूति होती है । इस अनुभूति से 'परमात्मा सदृश मेरी आत्मा हैं'–यह दृढ़ प्रतीति होती है ।

शुद्धात्मद्रव्यमेवाहं, शुद्धज्ञानं गुणो मम ।

नान्योऽहं न ममान्ये, चेत्यदो मोहास्त्रमुल्वणम् ।।

(—ज्ञान सार अष्टक-४)

अर्थ—मैं शुद्ध आत्म-द्रव्य हूँ, केवल-ज्ञान आदि मेरे गुण हैं । उसके अतिरिक्त अन्य देह आदि 'मैं' नहीं हूँ अथवा स्वजन, धन आदि 'मेरे' नहीं हैं । मोह को मारने का यह तीक्ष्ण शस्त्र है ।

अतः जब तक आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं करती, तब उसे जन्म-मरण आदि भोगने पड़ते हैं ।

जन्म को जीतने और मृत्यु को मारने के लिये अजन्मी एवं अमर आत्मा के रूप में स्वयं को जानने में और जीने में मोक्षार्थी साधक को पूर्ण रुचि होती है, इसलिये वह सांसारिक प्रपंच में तनिक भी रुचि नहीं लेता ।

मेरी आत्मा शाश्वत ज्ञान-दर्शन आदि से युक्त है;अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वीर्यमय है ।

मैं नारकी, तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव नहीं हूँ परन्तु सिद्धात्मा हूँ । अन्य समस्त देह आदि भाव केवल कर्म के प्रपंच हैं । परमात्मा में और मुझ में विशेष अन्तर नहीं है, क्यों परमात्मा में जो अनन्त गुण प्रकट रूप में विद्यमान हैं वे ही गुण मुझ में प्रच्छन्न रूप में विद्यमान हैं । केवल इतना ही अन्तर है ।

श्री 'ठाणांग सूत्र' में भी आत्मा एक ही बताई गई है ।

नौ तत्त्वों में भी चेतना की अपेक्षा से जीवों का एक ही भेद कहा है । 'समाधि-विचार' में भी कहा है कि—

"जे स्वरूप अरिहन्त को, सिद्ध स्वरूप वाली जेह ।

तेहवो आत्म स्वरूप छे, तिणमें नहीं सन्देह ।।

चेतन द्रव्य साधर्म्यता, तेणे करी एक स्वरूप।
भेद-भाव इण में नहीं, एहवो चेतन भूप ।।"

श्री अरिहन्त परमात्मा और सिद्ध परमात्मा का जैसा स्वरूप है, उसी प्रकार का स्वरूप समस्त आत्माओं का और मेरी आत्मा का है। इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है, क्योंकि जीव-द्रव्य की समानता होने से, समस्त जीव-द्रव्यों के बीच एक समान गुण-साम्य होने से उनमें भेद-भाव नहीं है। इस प्रकार का चेतन-राजा स्व-स्वरूप में सदा मग्न हो सकता है।

'रक्त के सम्बन्ध से अधिक गहरा सम्बन्ध गुण का है' यह सत्य इस विधान में से ग्रहण करने योग्य है, तब ही हम समस्त जीवों के वास्तविक सम्बन्धी परमात्मा के सच्चे सम्बन्धी बन कर समस्त मायावी सम्बन्धों के पाश से मुक्त होकर परमात्मा के वास्तविक सम्बन्धी का स्थान प्राप्त कर सकते हैं।

सिद्ध स्वरूप का ध्यान

'ज्ञानार्णव' में सिद्ध परमात्मा के ध्यान की प्रक्रिया इस प्रकार बताई गई है :—

श्री अरिहन्त परमात्मा का सालम्बन ध्यान सिद्ध होने पर तीनों लोकों के नाथ अरूपी, अविनाशी परमेश्वर श्री सिद्ध परमात्मा के ध्यान का प्रारम्भ करना चाहिये।

प्रथम सिद्ध परमात्मा के सिद्ध-स्वरूप का चिन्तन करके अपनी आत्मा को सिद्ध-स्वरूप की भावना से अत्यन्त ओत-प्रोत करना चाहिये अर्थात् अपनी आत्मा को सिद्ध-स्वरूप से भाव-मय करके सिद्ध-स्वरूप का ध्यान करना चाहिये।

सिद्ध-स्वरूप अर्थात् सर्वथा विशुद्ध-स्वरूप, सर्व कर्म-मुक्त चिदानन्दघन-स्वरूप।

ध्यान लाने से नहीं आता परन्तु उसके योग्य समुचित भूमिका प्राप्त होने पर स्वतः ही प्रकट होता है।

इस प्रकार की भूमिका श्री सिद्ध परमात्मा के स्वरूप के सतत चिन्तन-मनन से प्राप्त होती है।

जो परमात्मा सयोगी केवली अवस्था में साकार; सिद्धावस्था में निराकार, निष्क्रिय, परमाक्षर, निर्विकल्प, निष्कलंक, निष्कंप, नित्य एवं आनन्द के मन्दिर स्वरूप हैं; तथा समस्त चराचर पदार्थ ज्ञेय के रूप में जिन के ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने से विश्व-स्वरूप हैं; जिनका अद्भुत स्वरूप मिथ्या-दृष्टियों को अज्ञात हैं; जो नित्य उदय स्वरूप हैं; जो कृतार्थ-कल्याण स्वरूप, शान्त-निष्कल-अशरीरी एवं शोक रहित है।

जो समग्र भव-संचित क्लेश रूपी वृक्षों को भस्म करने में अग्नि के समान हैं; पूर्ण शुद्ध, अत्यन्त निर्लिप्त और ज्ञान साम्राज्य में प्रतिष्ठित हैं तथा जो निर्मल दर्पण में संक्रान्त प्रतिबिम्ब सदृश प्रभा वाले, ज्योतिर्मय, अत्यन्त वीर्य-वान्, महा पराक्रमी, परिपूर्ण एवं पुरातन हैं।

जो परम विशुद्ध अष्ट गुण युक्त, रागादि द्वन्द्व रहित निरोग, अप्रमेय फिर भी भेद-ज्ञान से जानने योग्य तथा जिसमें विश्व के समस्त तत्त्व व्यवस्थित हैं और जिनका स्वरूप बाह्य भावों से अग्राह्य होने पर भी अन्त-रंग भावों से ग्राह्य होने योग्य सहज शुद्ध हैं।

जो अणु से भी सूक्ष्म और गगन से भी विशाल, विस्तृत हैं वे अत्यन्त सुखपूर्ण सिद्ध परमात्मा समस्त जीवों के लिये वन्दनीय हैं।

जिनके अल्पकालीन ज्ञान मात्र से भी भव्य जीवों की भव-व्याधि नष्ट होती है ऐसे ये अविनाशी त्रैलोक्य-स्वामी परमात्मा हैं।

जिन परमात्मा का स्वरूप जानने से सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान होता है, परन्तु उस स्वरूप के ज्ञान के बिना अन्य समस्त वस्तुओं का ज्ञान निरर्थक होता है, क्योंकि परमात्म-स्वरूप के ज्ञान के बिना आत्म-स्वरूप में

स्थिरता प्राप्त नहीं होती; जबकि योगी पुरुष उनका स्वरूप जान कर स्वयं भी सिद्ध पद प्राप्त करते हैं।

अतः मुमुक्षु आत्माओं को अन्य सबकी शरण छोड़ कर, परमात्म-स्वरूप में ही अन्तरात्मा को तन्मय करके ध्यान करना चाहिये।

यहाँ प्रदर्शित श्री सिद्ध परमात्मा के प्रत्येक गुण पर पुनः पुनः चिन्तन करते रहने से चित्त में शुद्ध स्वात्म-स्वरूप की प्रतिष्ठा होती है और उनमें प्रतिष्ठित राग-द्वेष आदि समस्त दोष नष्ट होते हैं।

तन्मय होने का उपाय

सिद्ध भगवन्त अगोचर हैं, अव्यक्त, अनन्त एवं शब्द रहित हैं, जन्म-मरण रहित हैं और निर्विकल्प हैं, अतः मन को विकल्प रहित करके उसका ध्यान करना चाहिये।

मन को विकल्प रहित करने के लिये सर्वप्रथम 'शिवमस्तु सर्व जगतः' की भावना से उसे ओत-प्रोत करना चाहिये। ऐसा करने से स्वयं के प्रति राग का विस्तार जीव-मात्र तक होता है। तत्पश्चात् स्व-सुख विषयक आर्त्तध्यान उत्पन्न नहीं होता।

सबके कल्याण की भावना के अतिरिक्त मन निर्विकल्प हो नहीं सकता।

तत्पश्चात् ही, जिनके केवल-ज्ञान के अनन्तवें भाग में भी अनन्त द्रव्य-पर्याय से परिपूर्ण लोक एवं अलोक ज्ञेय रूप में स्थिर हैं, जो तीनों लोकों के गुरु हैं, ऐसे सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने की योग्यता जीव में प्रकट होती है।

यह योग्यता प्राप्त होने के पश्चात् जिस प्रकार छोटे बालक का वस्त्र बड़ा मनुष्य नहीं पहन सकता, उसी प्रकार से कोई भी सांसारिक भाव मुमुक्षु के लिये उपयुक्त नहीं होता; अर्थात् जीव के संसार के कारण-भूत राग, द्वेष

एवं मोह में उसका मन रमता ही नहीं, जिससे वह सिद्ध-स्वरूप को सिद्ध करने की साधना में तन्मय होने के प्रयासों को प्राथमिकता देता है।

इस प्रकार बार-बार सिद्ध-स्वरूप के स्मरण के द्वारा भाव-सिद्ध-स्वरूप का आलम्बन लेने वाला योगी ग्राह्य-ग्राहक भाव रहित होकर उसमें तन्मयता प्राप्त करता है। तन्मयता आने पर 'परमात्मा ग्राह्य और मैं ग्राहक ऐसा ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं रहता।

समस्त पदार्थों के विकल्पों को छोड़कर परमात्म-स्वरूप में इस प्रकार लीन हो जाना चाहिये कि जिससे ध्याता एवं ध्यान रूप विकल्प के अभाव से ध्येय के साथ एकता का अनुभव किया जा सके।

जब अभेद भाव से परमात्मा में तन्मयता आती है तब 'समरसी' भाव प्रकट होता है और उस भाव को आत्मा और परमात्मा की एकता सिद्ध करने के कारण 'एकीकरण' भी कहा जाता है।

जो योगी इस प्रकार के एकीकरण अथवा समरसी भाव द्वारा परमात्म-स्वरूप में तल्लीन होता है वह तादात्म्यता से सिद्धि प्राप्त करके सिद्ध-स्वरूपी बनता है, अर्थात् यह ध्यान आत्मा को परमात्म-स्वरूप बनाता है।

द्रव्य अरिहन्त द्वारा समापत्ति

श्री अरिहन्त परमात्मा की पूर्व अवस्था एवं उत्तर अवस्था 'द्रव्य-जिन' कहलाती है।

तात्पर्य यह है कि सिद्ध अवस्था को प्राप्त श्री अरिहन्त भी 'द्रव्य-जिन' कहलाते हैं और भविष्य में तीर्थंकर परमात्मा होने वाले श्रेणिक आदि के जीव भी 'द्रव्य-जिन' कहलाते हैं।

इस प्रकार की अनेक आत्माएँ चतुर्विध संघ में छिपी हुई होती हैं, फिर भी उन्हें पहचान कर ढूँढ निकालना अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है।

संघ भक्ति अथवा स्वधर्मी-वात्सल्य इस प्रकार की आत्माओं की भक्ति के लिये ही होते हैं, परन्तु उनमें भक्ति तो मुख्यतः श्री संघ की होती है; उसका कारण यह है कि संघ होता है तो उसमें ऐसी आत्माएँ उत्पन्न होती हैं।

इस अपेक्षा से संघ भक्ति, श्री तीर्थंकर परमात्मा की ही भक्ति है।

चतुर्विध संघ को शास्त्रों ने 'तीर्थ' के नाम से सम्बोधित करके उसका यथार्थ सम्मान किया है, क्योंकि उसकी स्थापना श्री तीर्थंकर परमात्मा ही करते हैं; अतः उसकी भक्ति श्री तीर्थंकर देव की भक्ति के तुल्य है। यह भी कहा जा सकता है कि संघ-भक्ति से श्री तीर्थंकर देव की भक्ति तो होती ही है, तदुपरान्त श्री तीर्थंकर देवों के लिये भी पूजनीय श्री संघ की भी भक्ति समुचित प्रकार से होती है।

जिस खान में हीरे होते हैं उस खान का विश्व में अग्रगण्य स्थान होता है; उसी प्रकार से अरिहन्त परमात्मा की आत्माओं की खान रूप संघ का इस विश्व में अग्रगण्य स्थान हैं।

इस कारण ही तो समवसरण में विराजमान होने के समय श्री अरिहन्त परमात्मा 'नमो तित्थस्स' कह कर तीर्थ को नमस्कार करते।

यहाँ तीर्थ का अर्थ श्रमण-प्रधान श्री चतुर्विध संघ है।

इस कारण ही तीर्थ-स्वरूप श्री चतुर्विध संघ के दर्शन, वन्दन, पूजन, मिलन श्री तीर्थंकर देव के दर्शन, वन्दन, पूजन एवं मिलन तुल्य हैं।

संघ भक्ति से श्री तीर्थंकर-पद की प्राप्ति

निराशंश भाव से की गई संघ भक्ति अनुक्रम से तीर्थंकर पद की प्राप्ति कराती है।

'उपदेश-पद' में भी कहा है कि जो आराधक आशंसा रहित होकर चैत्य, कुल, गण अथवा संघ की भक्ति करता है; वह प्रत्येक बुद्ध, गणधर अथवा तीर्थंकर-पद को अवश्य प्राप्त करता है।

आशंसा रहित अर्थात् निष्काम भाव से फल की आशा किये बिना, भक्ति के ही उद्देश्य से, ऋण-मुक्त होने के उद्देश्य से, कृतज्ञता को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से।

संघ-भक्ति एवं समापत्ति

श्री चतुर्विध संघ की भाव सहित भक्ति करने से श्री तीर्थंकर परमात्मा की तारणहार आज्ञा का पालन होता है।

आज्ञा-पालन के द्वारा श्री तीर्थंकर परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त होता है। अनुग्रह से अशुद्ध भाव क्षीण होते हैं और शुभ एवं शुद्ध भाव प्रकट होते हैं। विशुद्ध भावों से चित्त प्रसन्न, निर्मल एवं स्वस्थ होता है।

चित्त-वृत्तियें स्थिर होने से विश्व-वात्सल्य सुलभ होता है जिसके परिणाम से विश्व-वत्सल श्री तीर्थंकर परमात्मा के साथ अनायास ही समापत्ति ध्यान सिद्ध होता है।

विशेष महत्त्व आज्ञा-पालन का है। विश्व-वात्सल्यमय जीवन अंगीकार करना ही आज्ञा-पालन है।

निज के विचार में विचरण करके जीव श्री जिनराज की आज्ञा का विराधक बनता है और सबके कल्याण के विचार में विचरण करता जीव श्री जिनराज की आज्ञा का आराधक बनता है, पालक बनता है।

इस प्रकार की आराधना से आराध्य आत्मा को परमात्मा श्री जिनराज की लगन लगती है जिससे उसके जीवन में श्री अरिहन्त-प्रेम का रस जागृत होता है, जो समापत्ति में परिणत होता है।

द्रव्य अरिहन्त की उपासना

'चैत्य-वन्दन भाष्यादि' ग्रन्थों में परमात्मा की (१) पिण्डस्थ (२) पदस्थ और (३) रूपातीत अवस्था से श्री जिनेश्वर परमात्मा का ध्यान करने के लिये कहा गया है। उसमें भी पिण्डस्थ एवं रूपातीत भावना के द्वारा 'द्रव्य-अरिहन्त' की ही उपासना बताई गई है जो इस प्रकार है—

जब से श्री तीर्थंकर परमात्मा की आत्मा तीर्थंकर नाम कर्म की निकाचना करती है, तब से वे द्रव्य-अरिहन्त कहलाते हैं। अतः सर्व प्रथम श्री तीर्थंकर परमात्मा के पूर्व के तीसरे भव का विचार करना चाहिये।

इस विचार में, चिन्तन में उनकी परार्थ रसिकता, अपूर्व संयम-स्थिरता, बीस स्थानक तप की उत्कृष्ट आराधना और समस्त जीवों को परमात्म-शासन-रसिक बनाने की भव्यतम भावना को विशेष महत्त्व देकर चित्त को उसमें ही तन्मय कर देना चाहिये।

जितने भी उत्कृष्ट चिन्तन हैं उन सबमें इन चिन्तनों का स्थान अग्र-गण्य है; क्योंकि ये चिन्तन श्री अरिहन्त परमात्मा की आत्मा के हैं और श्री अरिहन्त परमात्मा अखिल विश्व के नायक होने के कारण उनके ये चिन्तन भी विचारक को स्वाभाविक तौर से विश्व में उत्तम स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं।

ज्यों-ज्यों मन इस चिन्तन में एक-रूप होता जाता है, त्यों-त्यों साधक को श्री अरिहन्त परमात्मा के प्रति अपूर्व एवं असीम श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न होती है और उसके द्वारा भाव-अरिहन्त स्वरूप में तन्मयता आने के कारण समापत्ति सिद्ध होती है।

श्री तीर्थंकर परमात्मा की आत्मा उक्त चिन्तनमय आराधना करके, तीर्थंकर नाम कर्म की निकाचना एवं निरतिचार संयम का पालन करके देह त्याग कर प्रायः देवलोक में उत्पन्न होती है।* वहाँ प्रचुर वैभव-विलास के साधनों के मध्य भी निर्लिप्त रह कर तत्त्व-चिन्तन में ही समय व्यतीत करती है।

---

* श्रेणिक महाराजा के समान कुछ आत्मा नरक में भी जाती हैं, इसलिए 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया गया है।

स्वर्ग में रह कर भी स्वर्ग के सुखों से अलिप्त श्री तीर्थंकर परमात्माओं की यह आत्म-रसिकता सचमुच ही पुनः-पुनः मनन करने योग्य है।

देवलोक में तीर्थंकर नाम-कर्म की निकाचना किये हुए असंख्य देव विद्यमान हैं और तीनों काल में विद्यमान होते हैं। एक सौधर्मेन्द्र अपनी आयु में असंख्य तीर्थंकर देवों के जन्मोत्सव मनाते हैं। उनके शुद्ध आत्म-द्रव्य का चिन्तन ही 'द्रव्य-अरिहन्त' की उपासना है।

पिंड़स्थ अवस्था के ध्यान में श्री तीर्थंकर परमात्मा के (१) च्वयन, (२) जन्म एवं (३) दीक्षा कल्याणकों का चिन्तन हो सकता है।

च्वयन कल्याणक:— विश्व-बन्धु. पुरुषोत्तम परमात्मा का च्यवन अर्थात् स्वर्ग या अन्य स्थान से च्यव कर माता के गर्भ में आना। वह भी तीनों लोकों के समस्त जीवों के लिये आनन्द-दायक होता है, क्योंकि वे जिस स्थान से च्यव कर आते हैं वहाँ फिर कभी लौटेंगे नहीं, परन्तु आगे जाकर जीवों का उद्धार करते हुए मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं; अतः उनकी भाव-दया के विषयभूत समस्त जीवों के लिये यह च्यवन की घटना अपूर्व आनन्द-दायिनी सिद्ध होती है।

जगदानन्दकारी श्री जिनेश्वर देव की आत्मा माता के गर्भ में आने पर माता को चौदह स्वप्न आते हैं। स्वप्न देख कर हर्षित माता शेष रात्रि इष्ट-स्मरण में व्यतीत करती है। प्रातः स्वप्न-पाठकों से स्वप्नों का फल ज्ञात करके माता आनन्द-विभोर होकर उत्तम दान आदि सत्कार्यों में प्रवृत्त होती है तथा उस समय से ही श्री तीर्थंकर परमात्मा के गर्भ की समुचित ढ़ंग से सुरक्षा करती है।

श्री तीर्थंकर परमात्मा की आत्मा नियमा* उत्तम क्षत्राणी माता की रत्न-कुक्षि में उत्पन्न होतीहै और उसका कारण यह है कि उत्तम प्रकार का पानी-

---

* चरम तीर्थ-पति श्री महावीर स्वामी परमात्मा की आत्मा ८२ दिन तक देवानन्दा ब्राह्मणी के उदर में रही थी। वह घटना अपवाद रूप होने से 'अच्छेरा' रूप मानी जाती हैं, यद्यपि उसके पीछे भी कर्म का अकाट्य गणित तो है ही।

दार मोती उत्तम प्रकार की सीप में से ही उत्पन्न होता है। अन्य सामान्य सीपी उस प्रकार का मोती उत्पन्न नहीं कर सकती। उसी प्रकार से अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ महा-मोह को मुट्ठी में मसल ड़ालने वाली श्री तीर्थंकर परमात्मा की आत्मा उत्तम क्षत्राणी माता की कुक्षि से ही जन्म धारण करती है।

जन्म कल्याणक :—जब नौ माह पूर्ण होने पर समस्त शुभ ग्रहों का शुभ योग मिलने पर श्री तीर्थंकर परमात्मा अवतीर्ण होते हैं, तब तीनों लोकों में आनन्द की लहर उमड़ती है और देवेन्द्र का सिंहासन ड़ोलने लगता है।

तब देवेन्द्र अवधिज्ञान से तीर्थंकर परमात्मा के जन्म होने की बात ज्ञात करता है और प्रमोद से पुलकित होकर जिस दिशा में परमात्मा ने जन्म लिया होता है, उस दिशा में सात-आठ कदम चल कर रत्न-जड़ित दुष्य से भूमि का प्रमार्जन करके अत्यन्त सार-गर्भित 'शक्र-स्तव' के द्वारा परमात्मा की स्तुति करता है।

जिन परमात्मा के जन्म का देवेन्द्र इस प्रकार स्वागत करता है, उस तीर्थंकर परमात्मा के जन्म-कल्याणक दिवस का समस्त प्रकृति भी स्वागत करती है, अभिनन्दन करती है। निसर्ग के महा शासन में भी उसका निराला हर्ष छा जाता है, क्योंकि त्रिभुवन के समस्त जीवों के परम हित-चिन्तक का स्वागत-सम्मान करने में निसर्ग का महा शासन सदा सक्रिय रहता है।

इस प्रकार के चिन्तन-भाव से आत्मा को श्री तीर्थंकर परमात्मा अतिशशय प्रिय लगते हैं। उनकी आज्ञा के पीछे सर्वस्व न्योछावर करने की सात्त्विक वृत्ति प्रकट होती है और जीवन का प्रत्येक क्षण उन परमात्मा की भक्ति के पीछे, तथा जीवों की मैत्री के पीछे सार्थक करने में ही जीवन है— यह सत्य जीवन का ज्वलन्त सत्य बन कर रहता है।

जिन जग-पति के जन्म के समय त्रिलोक में आनन्द व्याप्त हो जाता है उन श्री जिनराज के जन्म-कल्याणक का स्व-पर कल्याणकारी कार्यों के द्वारा अत्यन्त सम्मान करने की सद्बुद्धि उत्पन्न होती है।

देवेन्द्र की आज्ञा से ५६ दिग् कुमारियें आकर उत्कृष्ट भक्ति से प्रभु का जन्म-कार्य करती हैं और ६४ सुरपति मेरु-गिरि पर प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाते हैं।

इस तथ्य पर मनन करने से देह के मेरु शिखर स्वरूप ब्रह्म-रंध्र में हर्ष की लहर उमड़ती है।

"जिन जननी शुं जे धरे खेद,
तस मस्तक थाशे छेद ।"

अत्यन्त उत्साह पूर्वक श्री जिन-जन्म-महोत्सव मनाकर स्वर्ग में लौटते हुए देवेन्द्र के उपर्युक्त शब्द अत्यन्त ही मार्मिक हैं। उन पर चिन्तन करने से श्री जिनेश्वर देव के द्रव्य-माता (जन्म दातृ-माता) तथा भाव-माता (त्रिभुवन के समस्त जीवों के प्रति अपार वात्सल्य रूप माता) दोनों के प्रति कदापि दुर्भावना व्यक्त नहीं करने की सन्मति प्रकट होती है।

"तस मस्तक थाशे छेद" इन शब्दों का मर्म यह है कि जो जीव श्री जिनेश्वर देव की भाव-माता स्वरूप भाव-दया का अपलाप करेंगे, उनकी सुरक्षा एवं सम्मान करने के बदले खण्डन और अपमान करेंगे अर्थात् जड़ के प्रति राग रखेंगे और जीव का द्वेष करेंगे वे जीव निगोद का दण्ड पायेंगे।

इस प्रकार के उपकारी तत्त्वों का बोध श्री तीर्थंकर परमात्मा की पूर्वोत्तर अवस्था के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर होता है—वह यह सिद्ध करता है कि श्री तीर्थंकर परमात्मा के विचार में विचरण करना जीवन का सर्वश्रेष्ठ विचरण कार्य है। उसमें से विश्व-विहारी जीवन का जन्म होता है और संसार-विहारी तुच्छ जीवन का पूर्णतः परिवर्तन हो जाता है।

श्री तीर्थंकर परमात्मा जन्म से ही मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान और अवधि-ज्ञान के धारक होने पर भी माता, पिता, बन्धु एव स्वजनों के प्रति उनका सम्मान और औचित्य-पालन का गुण उनकी गम्भीरता एवं अलौकिक गुणों का ध्यान दिलाता है।

श्री तीर्थंकर परमात्मा जन्म से ही चार अतिशयों से युक्त होते हैं।* केवल तीर्थंकर परमात्मा ही इन चार अतिशयों के धारक होते हैं. तो उनका आत्म-द्रव्य कितनी उत्तम कोटि का होता है ? यह विचार अनायास ही हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न होता है, जो हमें भी आत्म-रतिवान बनाने में महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, यावत् सम्यक्त्व का स्पर्श कराता है।

अतिशय अर्थात् अनन्य, अद्वितीय प्रभावशाली गुण, स्वभाव से प्रभावोत्पादक गुण। पुष्प को सुगन्ध फैलाने के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता, परन्तु वह जहाँ विद्यमान होता है, वहाँ केवल उसकी उपस्थिति से ही सुगन्ध ही सुगन्ध हो जाती है; उसी प्रकार से ऐसे अतिशय युक्त श्री तीर्थंकर परमात्मा जब जहाँ विराजते होते हैं, तब उनके ये अतिशय वहाँ अपना स्वाभाविक प्रभाव डालते हैं।

इस प्रकार के अतिशयवंत श्री तीर्थंकर परमात्मा गृहस्थ जीवन में इस प्रकार रहते हैं जिस प्रकार जल में कमल रहता है। वे अपनी आत्मा को जल-कमल वत् निर्लिप्त रख कर रहते हैं।

इस तरह जिनका जन्म एवं निर्लिप्त गृहस्थ जीवन भी उत्कृष्ट आदर्श बनकर अनेक जीवों के लिये सत्य-पथ-प्रदर्शक होता है, उन श्री तीर्थंकर परमात्मा के उपकारों के विषय में जितना अधिक चिन्तन किया जाये, उतना अधिक शुद्ध हमारा चित्ततन्त्र होता है, यह निस्सन्देह है।

आज भी पाँच महाविदेह क्षेत्रों में १६६० द्रव्य तीर्थंकर देव विद्यमान हैं जो ८३ लाख पूर्व तक गृहस्थ जीवन में होते हैं और एक लाख पूर्व तक

---

* (१) जिनकी देह अत्यन्त सुन्दर एवं सुगन्धित होती है, नित्य निरोग होती है और प्रस्वेद, मल रहित होती है।

(२) जिनकी साँस कमल पुष्प सी सुरभित होती है।

(३) जिनका रक्त एवं माँस गाय के दूध के समान श्वेत एव दुर्गन्ध रहित होते हैं।

(४) जिनके आहार एवं निहार (मल-मूत्र-त्याग) अदृश्य होता है।

संयमी अवस्था में होते हैं। उसमें से एक हजार वर्ष छद्मस्थ अवस्था और शेष केवली पर्याय होते हैं। एक तीर्थंकर देव का निर्वाण होने पर एक तीर्थंकर देव को केवल ज्ञान प्रकट होता है और एक तीर्थंकर देव का जन्म होता है। एक-एक लाख पूर्व के अन्तर से एक-एक तीर्थंकर देव को केवल ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् वे भाव-तीर्थंकर बनते हैं। इस प्रकार एक विजय में ८३ द्रव्य-तीर्थंकर होते हैं।

इस तरह जब २० विजय में जघन्य से २० भाव-अरिहन्त परमात्मा विहरमान होते हैं तब कुल १६६० द्रव्य-तीर्थंकर (अरिहन्त) अवश्य विद्यमान होते हैं।

यह चिन्तन भी जीव को श्री अरिहन्त के उपयोग में स्थापित करने का स्तुत्य कार्य करता है।

दीक्षा-कल्याणक:—गृहस्थ जीवन का समय पूर्ण होने पर नौ लोकांतिक देव आकर द्रव्य अरिहन्त परमात्मा को धर्म-तीर्थ प्रारम्भ करने का निवेदन करते हैं और परमात्मा एक वर्ष तक निरन्तर दान का प्रवाह प्रवाहित करके विश्व की दरिद्रता दूर करते हैं तथा विश्व को शिक्षा देते हैं कि दान ही धर्म का प्रथम सोपान है।

उसी भव में स्वयं मुक्ति प्राप्त करेंगे यह जानते हुए भी वे सर्व विरति सामायिक उचर कर विश्व को बतलाते हैं कि समता के बिना जीव कदापि मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि किसी भी उपासना का परिणाम सम-भाव हो तो ही वह मोक्ष का कारण हो सकती है।

"कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचित्तं कर्म कुर्वंति।
प्रभुस्तुल्य मनोवृत्तिः पार्श्वनाथ श्रियेस्तु वः।"

यह स्तुति परमात्मा के उत्कृष्ट साम्य भाव को, सायायिक धर्म को नमस्कार स्वरूप है।

ऐसे सामायिक धर्म को आत्मसात् करके परमात्मा जगत् को बतलाते हैं कि सामायिक ही आत्मा है।

आत्म-स्वर्ण की पूर्णतः शुद्धि के लिये अलौकिक रासायनिक द्रव्य तप होने का सत्य श्री तीर्थंकर परमात्मा स्वयं दुश्चर तप करके जगत् को परोसते हैं।

प्रलयंकर आँधी के मध्य भी अविचल रहने वाले मेरु शिखर की तरह श्री तीर्थंकर परमात्मा उपसर्गों एवं परिषहों की आँधी और अग्नि के मध्य भी अटल रह कर चार घाती कर्मों का क्षय करके केवल-ज्ञान उपार्जित करते हैं।

इस तथ्य पर विचार करने वाले व्यक्ति को यह बात स्पष्ट समझ में आती है कि दुःखों से भयभीत होना कायरता है। दुःख तो कर्म-रोग को नष्ट करने वाली उत्तम औषधि है। रोगी औषधि से भयभीत नहीं होता, वह तो प्रेम से उसका सेवन करता है। उसी प्रकार से आराधक व्यक्ति स्व-कृत कर्मों का नाश करने वाले दुःखों से डरता नहीं है, वह तो उन्हें सम-भाव से सहन करता है।

इस प्रकार श्री तीर्थंकर परमात्मा के समग्र चरित्र के प्रत्येक अंग में जगमगाते परम आत्म वात्सल्य का सुभग दर्शन हमें उनकी विविध अवस्थाओं का पठन-मनन करने से होता है।

जिन उत्तम गुण गावतां,

गुण आवे निज अंग........।

इस स्तवन-पंक्ति के अनुसार ज्यों-ज्यों हम परमात्मा के गुणों का स्मरण-मनन-चिन्तन और गान करते हैं, त्यों-त्यों हमारे जीवन में गुणों का आविर्भाव होता है और दोष दूर होते हैं; अशुभ भाव नष्ट होते हैं और शुभ

भाव प्रकट होते हैं। उससे हमारा चित्त निर्मल होता है, विशुद्ध होता है; ध्यान दशा आती है और क्रमशः समापत्ति सिद्ध होती है।

इस प्रकार श्री अरिहन्त परमात्मा की पिण्डस्थ अवस्था की भावना द्वारा द्रव्य-अरिहन्त परमात्मा की उपासना करने से सरलता-पूर्वक समापत्ति सिद्ध होती है।

पदस्थ अवस्था में भाव अरिहन्त परमात्मा की उपासना की जाती है और तत्पश्चात् रूपातीत अवस्था में द्रव्य-अरिहन्त परमात्मा जो सिद्ध स्वरूप में सिद्ध-शिला पर बिराजमान हैं, उन अनन्त सिद्ध परमात्माओं की उपासना की जाती है।

इन तीन अवस्थाओं के क्रम से ज्ञात होता है कि साकार परमात्मा के ध्यान के पश्चात् ही निराकार परमात्मा का ध्यान किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी के साधक के लिये साकार अरिहन्त परमात्मा का ध्यान ही अनन्य लाभदायक सिद्ध होता है।

'चैत्यवन्दन भाष्य' में बारह अधिकार के वर्णन में भी प्रथम अधिकार में भाव-जिन को नमस्कार किया जाता है और दूसरे अधिकार में द्रव्य-जिन जैसे अनन्त सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार किया जाता है। यह भी यही सूचित करता है कि समवसरण स्थित साकार श्री अरिहन्त परमात्मा के ध्यान के पश्चात् निराकार परमात्मा के ध्यान में प्रवेश हो सकता है।

आकार में मन को लीन करने की योग्यता प्राप्त हुए बिना निराकार में मन लीन करने की बात, चलने की योग्यता प्राप्त हुए बिना वायु-वेग से दौड़ने की बात के समान हास्यास्पद है।

अतः साकार परमात्मा की भक्ति की समस्त आस्तिक दर्शनों ने समान रूप से पुष्टि की है।

भाव-अरिहन्त की उपासना

□

प्रभु के परम ऐश्वर्य का दर्शन

□

समवसरण स्थित श्री अरिहन्त परमात्मा का ध्यान करना वह भाव-अरिहन्त की उपासना है। उनकी ध्यान-विधि श्री पार्श्वनाथ चरित्र में जिस प्रकार वर्णित है उसे तनिक देखें, जानें।

सर्व कर्म-विनाशक ध्यान-विधि

१. स्मरण

(अ) पवित्र आचारी, पवित्र देह वाला और (मन: शान्ति) समाधि से युक्त ध्याता पावन स्थान पर सुख से पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख आसन ग्रहण करे। तत्पश्चात्—

(१) पर्यंकासन करना ।

(२) प्रस्तुत में अनुपयोगी मन, वचन, काया के व्यापार को रोकना ।

(३) नासिका के अग्रभाग पर नेत्रों को स्थिर करना अथवा नेत्रों को अर्द्ध-उन्मीलित रखना ।

(४) श्वास-निश्वास की गति मन्द करना ।

(५) अपने दुश्चरित्र की गर्हा करना ।

(६) समस्त जीवों से त्रिवित्र से क्षमा याचना करना ।

(७) प्रमाद दूर करना ।

(८) श्री अरिहन्त परमात्मा के ध्यान के लिये एकाग्रचित होना ।

(९) श्री गणधर भगवंतों का स्मरण करना ।

(१०) श्री सद्‌गुरुओं का स्मरण करना ।

२ विचिन्तन

तत्पश्चात् इस प्रकार विचिन्तन (विशेष चिन्तन) करना—

(१) समवसरण के लिये वायु-कुमार भूमि शुद्ध करते हैं ।

(२) मेघ कुमार उसका सिंचन करते हैं ।

(३) उस शुद्ध भूमि पर ऋतु-देवता जानु तक पुष्प-वृष्टि करते हैं ।

(४) वैमानिक देवता एक योजन प्रमाण समवरण के चारों ओर रमणीय मणियों का 'प्राकार' (गढ़) बनाते हैं ।

(५) ज्योतिष देवता स्वर्ण का मनोहर प्राकार बनाते हैं ।

(६) भुवन पति देवता रजत का सुन्दर प्राकार बनाते हैं ।

(आ) फिर वही भूमि क्रमशः—

(१) पादपीठ एवं तीन छत्रों से युक्त प्रवर सिंहासन

(२) भामंड़ल,

(३) चैत्यवृक्ष,

(४) तोरण, ध्वजाएँ, पताकाएँ आदि और

(५) चक्र-ध्वज, सिंह-ध्वज, धर्म-ध्वज और अन्य ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित है—यह चिन्तन करे ।

(६) तत्पश्चात् श्री जिनेन्द्र परमात्मा का इस प्रकार विचिन्तन करे कि—

(१) प्रभुजी व्यंतर देवों द्वारा रचित स्वर्ण-कमलों की कर्णिकाओं के मध्य अपने चरण युगल धरते हैं ।

(२) देवता देवाधिदेव को भक्ति-पूर्वक चामर ढोलते हैं और 'जय-जय' शब्दों की घोषणा करते हैं ।

(३) प्रभुजी के अग्र-गामी इन्द्र मार्ग में खड़े लोगों को एक ओर हटा रहा है।

(४) लोग कर-बद्ध होकर जगन्नाथ को निरखने के लिये अपने सिर ऊंचे किये हुए एक ओर खड़े हैं।

(५) प्रभुजी पूर्व द्वार से समवरण में प्रवेश कर रहे हैं।

(६) देवताओं के वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि से गगन गृंज रहा है।

(ई) तत्पश्चात् इस प्रकार विचिन्तन करे—

(१) श्री अरिहन्त परमात्मा पूर्वाभिमुख सिंहासन पर बिराजत हैं।

(२) अन्य तीन दिशाओं में भक्ति में दीवाने देवताओं द्वारा रचा हुआ परमात्मा का प्रतिरूप होता है।

(३) हर्ष से पुलकित इन्द्र हाथों से रत्नमय दण्ड वाले श्वेत चामर ढ़ोल रहे हैं।

(४) चारों दिशाओं के कोनों में स्थित भव्य जीव प्रभुजी के पावन चरण-कमलों के समीप बैठे हैं।

(५) विविध तिर्यंचों के समूह दूसरे वलय में पारस्परिक शत्रुता भूल कर (त्याग कर) बैठे हैं।

(६) प्रभुजी के मुख-कमल की अवर्णनीय शोभा निरख कर बारह पर्षदा आनन्द-विभोर हैं।

३ ध्यान

(उ) फिर त्रिजगपति श्री अरिहन्त परमात्मा का इस प्रकार ध्यान करे :—

(१) एक साथ, एक ही समय में उदित बारह सूर्यों के समूह के समान देदिप्यमान अंगों वाले,

(२) देवेन्द्रों एवं असुरेन्द्रों के समूह से युक्त तीनों लोकों को अपने रूप से जीतने वाले,

(३) मोह-वृक्ष का समूलोच्छेद करने वाले,

(४) राग-रूपी महा रोग का नाश करने वाले,

(५) क्रोधाग्नि का शमन करने वाले,

(६) समस्त दोषों की अवंध्य औषधि रूप,

(७) अविनाशी केवल-ज्ञान से अशेष वस्तुओं का परमार्थ प्रकट करने वाले,

(८) दुस्तर भव-समुद्र में डूबते जीवों का उद्धार करने के अकल्पनीय सामर्थ्य वाले,

(९) त्रिलोक-शिरोमणि, त्रिलकोक-गुरु, तीनों लोक जिनके चरणों में नत-मस्तक होते हैं ऐसे 'जग-चिन्तामणि' विरुद को सार्थक करने वाले,

(१०) अशोक-वृक्ष एवं छत्र त्रय के नीचे स्फटिक के सिंहासन पर विराजमान,

(११) जीवों के उपकार में रत, कल्याणकारी धर्म-देशना देने वाले,

(१२) लोक के समस्त पापों का नाश करने वाले, भव्य जीवों के लिये सर्व-सम्पत्ति के मूल कारण,

(१३) समस्त सुलक्षणों से युक्त, सर्वोत्तम पुन्यानुबंधी पुन्य से निर्मित देह वाले

(१४) ध्यानियों के निर्वाण के साधन, परम योगियों के मन में रमण करने वाले,

(१५) जन्म, जरा, रोग से रहित, सिद्ध के समान होने पर भी मानों धर्म के लिये ही देह में रहे हों,

(१६) हिम, मोतियों के हार एवं गाय के दूध से निर्मल,

(१७) कर्म-समूहों का नाश करने वाले,

इस प्रकार शान्त चित्त से तब तक ध्यान-मग्न रहना जब तक परमात्मा मानों साक्षात् प्रतीत न हों।

तत्पश्चात् अपने दोनों घुटने भूमि पर रखना, अत्यन्त भक्ति पूर्वक नत-मस्तक होकर परमात्मा के चरण-कमलों का स्पर्श करना, उस समय आत्मा परमात्मा की शरण में है यह भावना बनानी।

सन्मुख बिराजमान परमात्मा की भाव-पूर्वक सर्वांग पूजा करनी, चैत्य-वन्दन करना, बोधिलाभ आदि की प्रार्थना करनी।

४-फलादेश

इस प्रकार सदा अभ्यास करने से एकाग्र-चित्त वाले साधक को—

(१) श्री जिनेश्वर देव के गुणों एवं रूप आदि का सम्यक् प्रतिभास होगा।

(२) संवेग से कर्मों का क्षय होगा।

(३) क्षुद्र-जन से अनुल्लंघनीयता प्राप्त होगी।

(४) वचन में अप्रतिहता प्राप्त होगी।

(५) रोग रूपी शत्रु का प्रशमन होगा।

(६) धनोपार्जन के उपाय अवंध्य एवं समर्थ होंगे।

(७) सौभाग्य लादि की प्राप्ति होगी।

(८) इतना ही नहीं, परन्तु मनुष्यों के, देवों के एवं मुक्ति के सुख भी अविलम्ब प्राप्त होंगे।

उपसंहार

(१) इस प्रकार सदा समवसरण में बिराजमान श्री जिनेश्वर देव का स्मरण करना।

(२) अन्त में ध्यान समाप्त करके उचित कार्य में प्रवृत्त होना।

हे देवानुप्रिय ! यदि कल्याण की कामना हो तो परम गुरु-प्रणीत इस ध्यान विधि को आप समुचित रीति से स्वीकार करें।

'—सिरिदेवभद्दायरिअ विरइअ–सिरिपासनाह चरिअं'

(प्र. ४ पृष्ठ ३०४-३०६ के आधार पर)

अनादि काल से आत्मा से, लगे हुवे दुःख-रूप, दुःख-फलक, दुःख-परम्परक दुर्ध्यान आदि को तोड़ने में और आत्मा को परम कल्याणकारी परमात्म-स्वरूप के ध्यान आदि में जोड़ने में यह ध्यान-विधि राम-बाण औषधि के तुल्य है।

जीव कर्म के बोझ से नीचे गिरता है और वही जीव धर्म की आराधना से ऊपर चढ़ता है। धर्म की आराधना धर्म-पिता परमात्मा के स्मरण-मनन एवं ध्यान से होती है।

धर्म अर्थात् आत्म-वस्तु का स्वभाव, शुद्ध स्वात्म-स्वभाव अर्थात् समता-भाव अर्थात् सम्पूर्ण भाव-साम्य; भव एवं मोक्ष के सम्बन्ध में तुल्य भाव।

भव परम्परा में वृद्धि करने वाली असद् इच्छाऐं तब तक ही मन पर दबाव ड़ाल सकती हैं, जब तक उसको त्रिभुवन-पति श्री अरिहन्त परमात्मा की भव्यतम भावना स्पर्श नहीं करती।

ऐसा स्पर्श श्री अरिहन्त परमात्मा के उपर्युक्त स्वरूप के सतत विमर्श के प्रभाव से अवश्य होता है और भाव नीरोगता की ऊषा का उदय होता है, जिसमें से सम्यक्त्व रूपी सूर्य का जन्म होता है और अज्ञान का अन्धकार दूर हो जाता है।

अतः हे पुन्यशालियो! नित्य प्रवर्धमान भावों से परमात्मा के सम्पर्क में आकर, उस सम्बन्ध को सुदृढ़ बनाने वाली भावना भा कर भव-बन्धन नष्ट करने वाली जिन-भक्ति में मन को लीन करने का दृढ़ संकल्प करो।

भाव-अरिहन्त द्वारा समापत्ति

(१) समवसरण में बिराजमान श्री अरिहन्त परमात्मा 'नो आगम' से 'भाव-अरिहन्त' हैं।

वर्तमान समय में श्री सीमंधर स्वामी भगवान आदि २० विहरमान भगवान 'भाव-अरिहन्त' कहलाते हैं।

(२) भाव-अरिहन्त के ध्यान में एकात्म बना ध्याता अरिहन्त के उपयोग-युक्त होने से वह भी आगम से 'भाव-अरिहन्त' माना जाता है; क्योंकि

उस समय श्री अरिहन्त परमात्मा भाव से उक्त साधक के हृदय में बिराजमान होते हैं, अर्थात् साधक के हृदय में उस समय श्री अरिहन्त परमात्मा का भाव विद्यमान होता है।

+'विशेषावश्यक भाष्य वृति' में भावाचार्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ये नामादि भेद से चार प्रकार के होते हैं उसमें आचार्य के उपयोग रूप जो 'भावाचार्य' होते हैं वे शिष्य के मन में ही होते हैं, अतः उसे गुरु का विरह सिद्ध नहीं होता।

इसी प्रकार से साक्षात् अरिहन्त के विरह में भी उनके गुणों में उपयोग वाले साधक के हृदय में (अरिहन्त के उपयोग के रूप में) 'भाव अरिहन्त' रहते हैं जिससे उस साधक को उनका विरह नहीं होता।

* भाव रूप से समस्त जीव समान हैं क्योंकि समस्त जीवों की सत्ता शुद्ध संग्रह नय की अपेक्षा से सिद्ध के समान हैं। जीवत्व जाति एक ही है। शुद्ध गुण पर्याय वाली आत्म-सत्ता बदल कर अचेतन कदापि नहीं बनती। अतः चेतना की अपेक्षा से जीवों का एक ही भेद है।

संसारी जीवों की शुद्धात्म-सत्ता कर्म से आवृत्त होते हुए भी उसके आठ रूचक प्रदेश नित्य आवरण रहित होते हैं। अतः जब साधक राग-द्वेष त्याग कर भाव-अरिहन्त के ध्यान में अपनी मनोवृत्तियों को तद्रूप बनाता है तब वह स्वयं को भी परमात्म-स्वरूप में देखता है "अहो ! अहो ! मैं स्वयं को नमस्कार करता हूँ, मुझे नमस्कार, मुझे नमस्कार" कहता हुआ नृत्य करने लगता* है।

---

* भावपणे सवि एक-रूप (चैत्यवन्दन)
* अहो ! अहो ! हुँ भुजने कहुँ, नमो मुज नमो मुज रे। –यू. आनन्दघनजी
* नाम स्थापना-द्रव्य-भाव भेदाच्चतुर्विध आचार्यः, तत्राचार्यरूपों योऽसौ भावचार्यः शिष्यस्य मनसि वर्तते, अतो विरोहऽप्य असिद्वएवेति भावः ॥ —विशेसावश्यक भाष्य

भाव से भाव की उत्पत्ति

भाव से भाव की उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है ।

जिस प्रकार दीपक की जगमगाती ज्योति के साथ एकात्म होने से दूसरा अप्रकट दीपक प्रकाशित होकर अन्य दीपकों को स्व-तुल्य बनाने में समर्थ होता है, उसी प्रकार से ज्ञान-ज्योति से देदीप्यमान परमात्मा श्री अरिहन्त के साथ तन्मय बनी अन्तरात्मा परम ज्योतिर्मय बनती है ।

आगम से "भाव निक्षेप से" जो आत्मा अरिहन्त बनती है वही आत्मा 'नो आगम से' भाव निक्षेप से अरिहन्त बन सकती है, अर्थात् जो स्वयं जिन स्वरूप होकर जिन का ध्यान करता है वही जिन बनता है और वही भाव परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन है, जिन का प्रत्यक्ष मिलन-साक्षात्कार है ।

इस प्रकार श्रीं अरिहन्त परमात्ता के नाम आदि निक्षेप के आलम्बन द्वारा साधक के हृदय में जो भाव-अरिहन्तता प्रकट होती है अर्थात् उसका जो उपयोग श्री अरिहन्त परमात्मा का स्वरूप धारण करता है, वह उपयोग (भाव) ही साधक के समस्त कार्यों की सिद्धि का उपादान कारण होता है। वह बीज है और वह भाव उत्पन्न करने में साक्षात् परमात्मा अथवा उनकी नाम स्थापना अथवा द्रव्य अवस्थाऐं पुष्ट निमित कारण बनती है ।

श्री अरिहन्त परमात्मा आदि पुष्ट निमित्त के आलम्बन के बिना आत्मा की उपादान शक्ति प्रकट नहीं हो पाती ।

बीज में फूलने-फलने की शक्ति होती है तो भी योग्य भूमि, जल, प्रकाश, वायु आदि निमित्तों के आलम्बनों के बिना वह शक्ति प्रकट नहीं हो पाती, परन्तु बीज में सुषुप्त रहती है, उसी प्रकार से आत्मा में परमात्मता प्राप्त करने की योग्यता विद्यमान रहती है तो भी श्री अरिहन्त आदि पुष्ट निमित्तों के शुभ आलम्बनों के बिना उक्त योग्यता प्रकट नहीं हो सकती, वह आत्मा में ही दबी रहती है ।

अतः समस्त मुमुक्षुओं को अनुपम आदर पूर्वक श्री अरिहन्त परमात्मा के नाम-स्मरण, जप, ध्यान, आज्ञा-पालन आदि में अपनी समस्त श्रेष्ठ शक्ति

को सार्थक करना चाहिये, यही मानव-भव को सार्थक करने की सच्ची रीति है।

श्री नमस्कार महामन्त्र में प्रदर्शित परमात्म-दर्शन की कला

श्री नमस्कार महामन्त्र में भी श्री अरिहन्त परमात्मा आदि को नमस्कार के द्वारा नाम आदि चारों निक्षेप से श्री अरिहन्त परमात्मा के दर्शन एवं साक्षात्कार की अद्‌भुत कला बताई गई है।

'नमो अरिहन्ताणं' पद में अरिहन्त नाम 'अरिहन्त' स्वरूप है। उसके जाप के द्वारा मन्त्र-देह-स्वरूप अरिहन्त परमात्मा के दर्शन होते हैं।

मन्त्र-योग की तीन प्रथाओं का स्वरूप समझने से उसका मननीय रहस्य स्पष्ट होता है :—

(१) सुमुनि-प्रणीत मन्त्रवाद।
(२) देवता-आश्रित मन्त्रवाद।
(३) मन्त्रात्मक देवतावाद ।

मंत्रात्मक देवतावाद अर्थात् मंत्र एवं देवता कुछ अभेद स्वरूप वाले हैं; अतः देवता को मंत्र स्वरूपी अथवा पदमय माना जाता है।

वास्तव में ध्याता के साथ ध्येय साक्षात् विद्यमान नहीं होते हुए भी ध्याता को ध्येय की बोध रूपी उपलब्धि हो सकती है। मंत्रपद स्थूल स्वरूप को छोड़ कर जब सूक्ष्म स्वरूप धारण करता है तब वह देवता का स्वरूप प्राप्त करता है।

* पदस्थ ध्यान में प्रथम वैखरी अथवा मध्यमा वाणी के द्वारा स्थूल पद का आलम्बन लेकर, फिर सूक्ष्म पद का 'पश्यन्ती' एवं 'परा' वाणी के द्वारा आलम्बन लेना पड़ता है।

---

* अनामी ना नाम नो रे, किश्यो विशेष कहेवाय।
ए तो मध्यमा वैखरी रे, वचन उल्लेख कराय रे ।। भवि०

ध्यान की सूक्ष्म अवस्था के समय चित्त की श्लिष्ट एवं सुलीन अवस्था प्राप्त होती है जिससे वहाँ उस समय स्थूल विकल्प नहीं होते, परन्तु शुद्ध (ज्ञान क्रियात्मक,) तात्त्विक विमर्श होता है।

इस विमर्श को 'तात्त्विक मन्त्र देवता' अर्थात् 'मन्त्र देवता' अथवा 'पदमय' देवता कहते हैं, अर्थात् जिस मन्त्र-पद में इष्ट देवता की आराधना की जाती हो, वह इष्ट-देवता भाव-स्वरूप में साधक के मन-मन्दिर में उस समय विराजमान होता है।

"नमो सिद्धाणं" आदि पदों द्वारा भी वस्तुत: श्री अरिहन्त परमात्मा की ही आराधना होती है, क्योंकि सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु भगवत भी कथंचित् 'अरिहन्त' स्वरूप हैं।

श्री अरिहन्त एवं परमेष्ठियों की एकता

आचार्य, उपाध्याय एवं साधु पद श्री अरिहन्त परमात्मा की पूर्व अवस्था स्वरूप हैं तथा सिद्ध पद उत्तर अवस्था स्वरूप है और वह 'द्रव्य अरिहन्त' कहलाते हैं।

इस प्रकार एक श्री अरिहन्त परमात्मा में शेष चारों परमेष्ठी भगवंतों का समावेश हो जाता है।

अरिहन्त पद की आराधना के द्वारा जिस प्रकार तीर्थंकर नाम कर्म की निकाचना होती है, उसी प्रकार से सिद्ध आदि पदों की आराधना के द्वारा भी तीर्थंकर नाम कर्म बँधता है। अतः समस्त पद उस अरिहन्त पद को प्राप्त कराने वाले होने से अरिहन्त स्वरूप हैं।

*ध्यान के प्रारम्भ में परमात्मा का साकार स्वरूप भी ध्यान की कक्षा पर अलख, अगोचर हो जाता है, फिर भी 'परा' एवं 'पश्यन्ती' वाणी

---

* ध्यान टाणे प्रभु तूं होवे रे, अलख अगोचर रूप।
परा-पश्यन्ती पामीने रे, कांई प्रमाणे मुनि भूप रे। भवि०

(—ज्ञान पंचमी देव-वन्दन)

के द्वारा महा मुनिगण अमुक अंश में प्रभु के स्वरूप का अनुभव कर सकते हैं।

※ गुरु-भक्ति के प्रभाव से अथवा अन्य पद की आराधना से ध्याता जब श्री अरिहन्त परमात्मा के साथ तन्मय होकर समापत्ति सिद्ध करता हैं, तब ही जिन नाम कर्म का बन्ध होता हैं और उस कर्म के उदय से ध्यायता स्वयं तीसरे भव में तीर्थंकर होता है, तथा उसी भव में वह समापत्ति के द्वारा भाव-तीर्थंकर के दर्शन करता है।

*आगम में वर्णित तीर्थंकर के स्वरूप में उपयोग युक्त साधक वस्तुतः तीर्थंकर स्वरूप है क्योंकि उस उपयोग के साथ उसकी अभेद-वृत्ति है।

श्री अरिहन्त परमात्मा का नाम, उनकी मूर्ति एवं वाणी तथा श्री चतुर्विध संघ भी कथंचित् अरिहन्त स्वरूप है। इस प्रकार सूक्ष्म बुद्धि द्वारा समझकर उनके नाम-स्मरण के समय तथा शान्त मूर्ति के दर्शन के समय एवं उनकी वाणी श्रवण करने के समय और श्री चतुर्विध संघ के दर्शन-मिलन के समय मानो साक्षात् श्रो अरिहन्त परमात्मा का ही दर्शन-मिलन हुआ हो उस प्रकार अनुपम अपूर्व भाव सदा आत्मा में उत्पन्न करने चाहिये।

आवश्यक क्रिया में नाम आदि जिन की उपासना

देव-वन्दन एवं प्रतिक्रमणादि के सूत्रों में भी नाम आदि जिन की भक्ति के द्वारा समापत्ति (तन्मतया) सिद्ध करने की कला विद्यमान है।

(१) 'लोगस्स सूत्र' द्वारा नाम-जिन की आराधना होती है।

※ गुरुभक्ति प्रभावेन तीर्थकृद्दर्शनं मतं।
समापत्यादिभेदेन निर्वाणैक निबन्धनम् ॥ ६४ ॥
—योगदृष्टि समुच्चय

※ आगमअभिहितसर्वज्ञस्वरूपोपयोगोपयुक्तस्य तदुपयोग अनन्यवृत्तेः परमार्थतः सर्वज्ञस्वरूपत्वात् ॥

(२) 'अरिहंत चेइयाणं' सूत्र द्वारा स्थापना-जिन की आराधना होती है।

(३) 'सिद्धाणं बुद्धाणं' सूत्र द्वारा द्रव्य-जिन की आराधना होती है।

(४) 'नमुत्थुणं' सूत्र द्वारा भाव-जिन की आराधना होती है।

उपर्युक्त चारों सूत्रों के साथ आत्मीयता बढ़ाने से सूत्रान्तर्गत श्री जिनेश्वर भगवान से आत्मीयता होती है, 'स एव अहं' तत्त्व का स्पर्श होता है जो समापत्ति स्वरूप है।

'सिरि सिरिवाल कहा' में उसका रहस्य निम्न ढ़ंग से प्रदर्शित किया गया है—

जं झाया झायंतो, अरिहंत रुवसुपयपिंड़त्थं ।
अरिहंतपयमेवं चिय, अप्पं पिक्खेइ पच्चक्खं ।।

संभेद प्रणिधान (ध्यान) के समय ध्याता प्रथम शरीरस्थ अरिहन्त परमात्मा का अर्थात् छद्मस्थ अवस्था में विद्यमान श्री अरिहन्त परमात्मा का ध्यान करे।

तत्पश्चात् 'अर्हं' आदि अक्षरों का (पदस्थ) ध्यान करे, फिर समवसरण-स्थित श्री अरिहन्त परमात्मा (केवली अवस्था वाले) का ध्यान करे।

इस क्रम से निरन्तर अभ्यास करते करते साधक में जब 'अभेद प्राणि-धान' की योग्यता आती है, तब वह उसी क्रम से श्री अरिहन्त परमात्मा की तीनों अवस्था-रूप अपनी आत्मा का ध्यान करने लगता है जिससे वह अपनी आत्मा को भी साक्षात् श्री अरिहन्त के स्वरूप में देखता है।

ध्यान का ध्येयाकार में परिणमन ही समापत्ति है। वही ध्याता जब सिद्ध स्वरूप की भावना करके तन्मय होता है, तब सिद्ध परमात्मा के समान अपनी आत्मा को निरंजन, निराकार स्वरूप मैं अनुभव करता है।

नाम-ध्येय आदि का स्वरूप

'तत्त्वानुशासन' में नाम-ध्येय, स्थापना-ध्येय, द्रव्य-ध्येय और भाव-ध्येय का स्वरूप निम्नानुसार बताया गगा है—

(१) **नाम-ध्येय** :—वाच्य-अभिधेय पदार्थ के वाचक को 'नाम' कहते हैं। जो आदि, मध्य एवं अन्त समस्त शास्त्र (समस्त वाङ्मय) में व्याप्त है। उन ऊर्ध्वगामी ज्योतिर्मय श्री अरिहन्त परमात्मा के नाम का हृदय में ध्यान करना चाहिये।

'अ' से 'ह' तक के अक्षर उभय लोकों का उत्तम फल प्रदान करने वाले परम शक्तिशाली मंत्र हैं। अतः षट्-चक्रों (मूलाधार आदि में उनका ध्यान करना चाहिये।

इसके अनुसार 'अर्हं' मन्त्र अथवा अन्य शुभ मन्त्रों का ध्यान नाम-ध्येय' है जिसे पदस्थ-ध्यान भी कहते हैं।

नाम जप रूप यज्ञ से यश की कामना भस्म होती है, और जिसके नाम का जाप किया जाता है उसके नाम पर समस्त शुभ जमा करने की निर्मल बुद्धि हम में उत्पन्न होती है।

(२) **स्थापना ध्येय**:—वाच्य पदार्थ की आकृति (प्रतिमा) को स्थापना कहते हैं।

आगमों में वर्णित शाश्वत, अशाश्वत जिन बिम्बों का शास्त्रोक्त विधि के अनुसार निःशंक होकर ध्यान करना स्थापना-ध्येय का स्वरूप है।

शास्त्रोक्त विधि का सम्मान पूर्वक पालन करने से मन एवं जीवन विधेयात्मक रुझान की ओर प्रेरित होता।

(३) **द्रव्य-ध्येय** :—जो गुण पर्याय वाला होता है वह द्रव्य कहलाता है। इसका ध्यान निम्न ढंग से किया जा सकता है :—

प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य युक्त है, विवक्षित समय पर वह उत्पन्न होता है उसके पूर्व पर्याय का नाश होता है और तो भी वह द्रव्य के रूप में स्थिर रहता है। इस प्रकार किसी एक पदार्थ के त्रिधर्मात्मक स्वरूप का ध्यान करना द्रव्य-ध्येय है। सभी द्रव्यों में शुद्धात्मा ही श्रेष्ठ द्रव्य है उसके स्वरूप का ध्यान करना द्रव्य ध्येय है।

(४) **भाव-ध्येय** :—समस्त द्रव्यों की ज्ञाता आत्मा है, अतः ज्ञान-स्वरूप आत्मा का ध्यान तथा श्री पंच परमेष्ठी भगवन्तों का ध्यान 'भाव-ध्येय' है।

कुछ न कुछ होने का अपूर्ण भाव पूर्ण-गुणी पूर्ण-पुरुष परमात्मा श्री अरिहन्त के ध्यान से नष्ट हो जाता है। अतः मुमुक्षु को सदा वीतराग सर्वज्ञ श्री अरिहन्त परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

वीतरागोऽप्ययं देवो ध्यायमानो मुमुक्षुभिः ।
स्वर्गापवर्गफलदः शक्तिस्तस्य हि तादृशी ॥

अर्थः—ये देव श्री वीतराग हैं तो भी ध्याता मुमुक्षु को स्वर्ग एवं अपवर्ग का उत्तम फल देने वाले हैं। उनकी वैसी ही स्वाभाविक शक्ति है।

इस विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि जिसका सम्यक् प्रकार से सेवन करने से उसकी स्वाभाविक शक्ति का लाभ उसके ध्याता को प्राप्त नहीं होता है।

तो फिर वीतराग करिहन्त परमात्मा के नाम आदि चारों निक्षेप के स्मरण, मनन, पूजन, और ध्यान करने वाले मुमुक्षु को उस क्रम की भक्ति का लाभ प्राप्त हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या है?

इस प्रकार नाम आदि के भेद से ध्येय के चार प्रकार माने जाते हैं— (१) पदस्थ ध्यान में नाम ध्येय का, (२) रूपस्थ ध्यान में स्थापना ध्येय का, (३) पिण्डस्थ ध्यान में द्रव्य ध्येय का, और (४) रूपातीत ध्यान में भाव ध्येय का उपयोग होता है।

अन्य ढंग से ध्येय के दो प्रकार

(१) द्रव्य ध्येय, (२) भाव ध्येय।

द्रव्य-ध्येयः—चेतन अथवा अचेतन बाह्य पदार्थ का ध्यान किया जाये वह द्रव्य-ध्येय है।

भाव-ध्येयः—ध्येय तुल्य ध्यान पर्याय, जैसे ध्याता जब स्थिरता धारण करता है तब ध्येय उसके समीप न होने पर भी मानों सामने ही हो ऐसा उसे आभास होता है। यह भाव-ध्येय कहलाता है।

ध्याता तत्त्व से प्रकट अरिहन्त स्वरूप नहीं है, तो भी ध्यानावस्था में अपनी आत्मा को भाव-अरिहन्त के रूप में अनुभव करता है, जो भाव ध्येय का नमूना है। कहा है कि—

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात् स्वयं तस्मात्॥

अर्थः—जिस भाव में जीव परिणाम होता है, वह उस भाव के साथ तन्मय हो जाता है। अतः श्री अरिहन्त परमात्मा के ध्यान में बना साधक स्वयं अरिहन्त कहलाता है।

जिस प्रकार स्फटिक मणि अपने समक्ष रखी वस्तु का स्वरूप धारण कर लेती है, उस प्रकार से आत्मा स्वयं का जिस रूप में ध्यान करती है उस रूप में वह हो जाती है। रागी-द्वेषी को देखकर उस रूप में अपना ध्यान करने वाला व्यक्ति रागी-द्वेषी बनता है और वीतराग परमात्मा का ध्यान करने वाला ध्याता राग-द्वेष रहित वीतराग स्वरूप प्राप्त करता है।

'षोडषक प्रकरण' में पूज्य सूरि पुरन्दर श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने परमात्म-दर्शन की इच्छा का 'अनालम्बन योग' के रूप में वर्णन किया है—

सामर्थ्ययोगतो या तत्र दिदृक्षा इति असंगशक्त्याख्यः।
सोऽनालम्बनयोगः प्रोक्तस्तद्दर्शनं यावत्॥८॥

तात्पर्य यह है कि सामर्थ्य योग के अभाव से असंग शक्ति-युक्त परमात्म दर्शन की तीव्र अभिलाषा को जब तक परमात्म-दर्शन नहीं होंगे, तब तक 'अनालम्बन योग' कहा जायेगा।

यद्यपि ध्याता की उस समय परमात्म-तत्त्व में प्रवृत्ति अवश्य होती है। इससे समझा जा सकता है कि प्रथम प्रीति, भक्ति और वचन योग के पालन से जब असंग अनुष्ठान की प्राप्ति होती है अथवा इच्छायोग एवं शास्त्रयोग से जब सामर्थ्य-योग प्रकट होता है तब जीव को प्रातिभ-ज्ञान के योग से आत्म-तत्त्व का दर्शन होता है।

इससे वर्तमान काल में भी सातवें गुण स्थानक तक की भूमिका पर पहुँचा जा सकता है, वहाँ रूपातीत ध्यान के द्वारा परमात्मा के गुणों का ध्यान करके शुक्ल-ध्यान के अंश द्वारा आत्म-स्वरूप की आंशिक अनुभूति की जा सकती है।

अतः समस्त मुमुक्षु आत्मा नाम आदि निक्षेप से श्री अरिहन्त परमात्मा का वास्तविक स्वरूप समझ कर परम प्रीति एवं भक्ति पूर्वक निरन्तर ध्यान आदि सद् अनुष्ठान द्वारा असंग योग प्राप्त करके परम आत्म-दर्शन प्राप्त करें यही शुभ अभिलाषा।

समापत्ति

☐

परम आत्म-दर्शन की तीव्रतम लगन वाला साधक ज्यों-ज्यों परमात्मा के नाम के स्मरण रूपी जाप एवं उनके गुणों की गंगा में स्नान करता जाता है, त्यों-त्यों उसका चित्त अधिकाधिक निर्मल होता जाता है।

ज्यों-ज्यों ध्यान उत्कृष्ट कोटि का होता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा और परमात्मा के मध्य का भेद मिटता जाता है। आत्म-भाव की शुद्धता में वृद्धि होने पर साधक को अपनी आत्मा ही परमात्म तुल्य प्रतीत होती है और आगे जाकर ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता हो जाती है; अर्थात् आत्मा, आत्मा के द्वारा शुद्ध आत्म-तत्त्व का ही ध्यान करती है, तब समापत्ति सिद्ध होती है।

समापत्ति, ध्यान का प्रधान फल है। एकत्व ध्यान के स्पर्श से ध्येय रूप परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का यथार्थ बोध होता है, तब ध्याता अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पहचान लेता है। ऐसी स्पष्ट पहचान के पश्चात् आत्म-जीवीपन की सच्ची भूख लगती है और उस जीव को आत्मा के सुख और आनन्द का अपूर्व अनुभव होता है।

आनन्दघन आत्मा के शुद्ध स्वरूप के इस साक्षात्कार को ही समापत्ति कहते हैं।

यह समापत्ति सिद्ध करने के लिये सर्व प्रथम बहिरात्म-भाव को त्यागना चाहिये, बाहर सुख होने का भ्रम दूर करना चाहिये, इस प्रकार के त्याग में राग उत्पन्न करने के लिये परम त्यागी भगवंतों के जीवन-चरित्रों का अध्ययन करना चाहिये, महान् त्यागी भगवंतों की सेवा करनी चाहिये और दूसरों की आलोचना-प्रत्यालोचना (पंचायत) छोड़ देनी चाहिये।

तदुपरान्त अन्तरात्म-स्वरूप में स्थिर होकर आत्मा को परमात्म स्वरूप में भजना चाहिये, उसका ध्यान करना चाहिये; अर्थात् आत्मा में परमात्म-स्वरूप की भावना उत्पन्न करनी चाहिये—"हे आत्मा ! तू पूर्णानन्द-मय परमात्मा है ।' इस प्रकार की भावना के पुट इस पर निरन्तर देने चाहिये।

कहते हैं कि चौसठ प्रहरी पीपर का विधिपूर्वक सेवन करने से कफ का प्रकोप शान्त हो जाता है । पीपर को निरन्तर चौसठ प्रहर तक शुद्ध खरल में घोटा जाता है, तब उसमें विद्यमान यह कफ-प्रकोप-शामक शक्ति प्रस्फुटित होती है और उसका सेवन करने वाले व्यक्ति का कफ-प्रकोप शान्त हो जाता है।

इसी तरह जीव को अनादि काल से लगी हुई महा मोह की व्याधि दूर करने के लिये उसे परमात्म-भावना के लाखों-करोड़ों पुट देने पड़ते हैं। मन की शुद्ध खरल में परमात्मा के गुणों रूपी गुटिकाओं को अत्यन्त घोटनी पड़ती है, जिससे आत्मा का परमात्मा में समर्पण होता है और आत्मार्पण का स्वरूप निश्चय पूर्वक सोचने पर परमात्मा के साथ भेद-सम्बन्ध का भ्रम मिट जाता है । इससे पूर्णानन्दपूर्ण आत्म-सम्पत्ति की प्राप्ति होती है अर्थात् यह आत्मा परम आत्म-स्वरूप को प्राप्त करती है ।

परमात्मा के चरणों में निष्कपट भाव से आत्म-समर्पण करना ही समापत्ति है । जब सम्पूर्ण चित्त विशुद्ध, स्थिर एवं तन्मय बनता है तब ही समापत्ति अथवा आत्म-समर्पण हो सकता है । जल बिन्दु सागर को समर्पित होकर अक्षय, अभंग हो जाता है; इस उदाहरण पर चिन्तन करने से यह पूर्णत्व योग रूप समापत्ति का स्वरूप स्पष्ट समझ में आता है ।

'पातंजलि योगदर्शन' में समापत्ति के निम्न लक्षण बताये हैं:—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्य मणि र्गृहीतृ-ग्रहण—
ग्राह्येषु तत्स्थ्य—तदञ्जनता समापत्तिः ।।

अर्थः—उत्तम जाति की स्फटिक मणि के समान, राजस एवं तामस-वृत्ति रहित निर्मल चित्त की गृहीता, ग्रहण एवं ग्राह्य (ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय) विषयों की स्थिरता से तन्मयता (वह स्वरूपमय स्थिति) हो, वह 'समापत्ति' है।

जो समापत्ति शब्द, अर्थ एवं ज्ञान के विकल्पों से युक्त होती है, वह सवितर्क अथवा सविकल्प समापत्ति कहलाती है। जो शब्द एवं ज्ञान के विकल्प रहित केवल ध्येयाकार (अर्थ) रूप में प्रतीत होती हो, वह निर्वितर्क अथवा निर्विकल्प समापत्ति कहलाती है।

उपर्युक्त दोनों भेद स्थूल भौतिक पदार्थ विषयक समापत्ति के हैं। सूक्ष्म परमाणु आदि विषय वाली समापत्ति को सविचार एवं निर्विचार समापत्ति कहते हैं।

इन चार प्रकार की समापत्ति को 'संप्रज्ञात समाधि' भी कहते हैं।

इससे यह भी ज्ञात होता है कि जब ज्ञाता के उपयोग का परिणाम ज्ञेय होता है तब वह समापत्ति कहलाती है।

समापत्ति के साधन

तीन प्रकार की भक्ति से समापत्ति:—

(१) स्वामी-सेवक भाव से परमात्मा की भक्ति करने से बहिरात्म-भाव दूर होता है और चित्त निर्मल होता है।

(२) अंश-अंशी भाव से (मेरे सम्यग्-दर्शन आदि गुण प्रभु की पूर्ण प्रभुता का ही एक अंश है इस भावना से) परमात्म-भक्ति करने से अन्तरात्म स्वरूप में स्थिरता आती है।

(३) परा-भक्ति–परमात्मा तुल्य स्व-आत्मा को मानकर, उस रूप में ध्यान करने से परमात्मा के साथ तन्मयता सिद्ध होती है, उसे आत्मार्पण अथवा समापत्ति कहते हैं।

ये तीनों प्रकार की भक्ति भव-विषयक आसक्ति को नष्ट करने का कार्य करती हैं, भक्त को भगवान के साथ जोड़ने का कार्य करती हैं।

तीन प्रकार की पूजा से भी समापत्ति सिद्ध होती है।

(१) द्रव्य पूजा—अष्ट प्रकार की पूजा आदि से चित्त की निर्मलता, प्रसन्नता प्राप्त होती है।

(२) प्रशस्त भाव-पूजा—चैत्यवन्दन, स्तुति, स्तवन, प्रार्थना, गुण-गान आदि करने से चित्त में स्थिरता आती है। स्तवन का विषय परमात्मा होने के कारण आत्मा को उसका लाभ होता ही है।

(३) शुद्ध भाव-पूजाः—अर्थात् परम कृपालु परमात्मा के सर्वोत्तम गुणों का एकाग्रचित्त होकर ध्यान करना, चिन्तन करना; परमात्मा के अनन्त गुणों में से किसी एक गुण को पकड़ कर मन को उसमें ही लीन करना। इस भाव-पूजा से परमात्मा में तन्मयता आती है जिससे समापत्ति सिद्ध होती है।

तीन अवस्थाओं की भावना से समापत्ति

परमात्मा की पिण्डस्थ, पदस्थ एवं रूपातीत अवस्था की भावना से भी समापत्ति सिद्ध होती है।

(१) **पिण्ड़स्थः**—छद्मस्थ अवस्था प्रभु की वाल्यावस्था (जन्मोत्सव, स्नान आदि) राज्यावस्था एवं मुनि अवस्था का चिन्तन करने से चित्त निर्मल होता है और उसमें से समापत्ति की भूमिका का निर्माण होता है।

(२) **पदस्थः**—केवली अवस्था, प्रभु की केवल-ज्ञान अवस्था का विचार करने से चित्त स्थिर होता है जिससे समापत्ति के योग्य रस भरता है।

(३) **रूपातीत अवस्थाः**—प्रभु की सिद्ध अवस्था; प्रभु की सिद्ध अवस्था का ध्यान करते-करते जब तन्मयता सिद्ध हो जाती है तब समापत्ति सिद्ध होती है।

चार अनुष्ठानों के द्वारा समापत्ति

(१–२) प्रीति एवं भक्ति अनुष्ठान से चित्त निर्मल होता है।

(३) वचन-अनुष्ठान:—शास्त्रोक्त विधिपूर्वक इस अनुष्ठान से चित्त में स्थिरता आती है।

(४) असंग अनुष्ठान में चित्त में तन्मयता आती है, यही समापत्ति है।

तीन प्रकार के जाप से समापत्ति

(१) 'अर्हं' आदि पद के भाष्य जाप से चित्त निर्मल होता है।

(२) 'अर्हं' आदि पद के उपांशु जाप से चित्त स्थिर होता है।

(३) 'अर्हं' आदि पद के मानस-जाप से चित्त तन्मय होता है, तब 'समापत्ति' सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि श्री अरिहन्त परमात्मा आदि पंच-परमेष्ठी भगवंतों की भाव पूर्वक भक्ति से अथवा श्री वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा प्रणीत किसी भी अनुष्ठान की भाव-पूर्वक आराधना से चित्त में निर्मलता, स्थिरता एवं तन्मयता आने पर 'समापत्ति' सिद्ध होती है।

प्रत्येक आराधक का मूल्यांकन उसके चित्त की निर्मलता, स्थिरता एवं तन्मयता के अनुसार किया जाता है।

निर्मलता अर्थात् राग, द्वेष एवं मोह रूपी मल से रहितता।

स्थिरता अर्थात् आत्मस्थता।

तन्मयता अर्थात् शुद्ध स्व-स्वभावमयता।

ये तीनों कक्षाऐं परम विशुद्ध, सर्वथा सुस्थिर एवं परमात्म-पद प्राप्त परमात्मा को, उनकी भक्ति को, उनके गुणों को, उनके उपकारों को और उनकी आज्ञा को उत्कट भाव से समर्पित होने से आती हैं।

छोटी सी प्रतीत होने वाली 'इरियावहियं' पडिक्कमने की आराधना से 'अइमुत्ता' मुनिवर को केवलज्ञान प्राप्त होने का कारण बनी। क्यों ? उत्तर यह है कि चित्त की निर्मलता, स्थिरता एवं तन्मयता पराकाष्ठा पर पहुँचने से 'अइमुत्ता मुनिवर' को शुक्ल ध्यान में आरूढ़ होने से केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

सारांश यह है कि समापत्ति की रटन लगाने वाले प्रत्येक साधक को चित्त को निर्मल, स्थिर एवं तन्मय वनाने का श्रेष्ठ पुरुषार्थ प्रारम्भ करना चाहिये।

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजय गणिवर ने द्वा० द्वा० २ के १० वे श्लोक में यही बात वतलाई है—

मणेरिवाभिजातस्य, क्षीणवृत्तेरसंशयम् ।
तात्स्थ्यात्तदञ्जनत्वाच्च, समापत्तिः प्रकीर्तिता ।।

अर्थ—निर्मल मणि की तरह क्षीण वृत्ति वाले निर्मल चित्त को ध्येय में स्थिर एवं तन्मय होने पर 'समापत्ति' सिद्ध होती है।

'क्षीण वृत्ति' शब्द तात्त्विक मूल्य से युक्त है।

क्षीण-वृत्ति वाला अर्थात् जिसकी अशुभ वृत्तियां क्षीण हो गई हों वह साधक। समस्त अशुभ वृत्तियों को क्षीण करने के लिये 'सब के शुभ' की वृत्ति एवं प्रवृत्ति अपनानी पड़ती है। वृत्ति बीज है, प्रवृत्ति फल है। वीज नष्ट होने पर फल नहीं आता—यह सत्य है।

अशुभ वृत्ति भव-वीज है जिसमें से जन्म, जरा, मृत्यु आदि फल उत्पन्न होते हैं।

शुभ वृत्ति एवं तज्जन्य शुद्ध वृत्ति मुक्ति-वीज हैं, जिसमें से परमात्म-स्वरूप फल की उत्पत्ति होती है। पहले शुभ और फिर शुद्ध, यह क्रम है।

लाल-पीले पुष्प के पास स्थित निर्मल स्फटिक में पुष्पों का प्रतिबिम्ब पड़ने से स्फटिक भी लाल अथवा पीला प्रतीत होता है। उस प्रकार से अन्तरात्मा—अन्तर्मन जब विषय—कषाय की मलिन वृत्तियों को, 'अहं—मम' की मलिन वृत्तियों को दूर करके निर्मल होकर स्थिरता पूर्वक परमात्मा का ध्यान करता है, तब वह परमात्म-स्वरूप में तन्मयता प्राप्त करता है। तब वह परमात्मा कोई बाहर का व्यक्ति नहीं, परन्तु 'मैं' हूं, ऐसा 'सोऽहं' 'सोऽहं' का

अस्खलित अनाहत नाद उत्पन्न होता है और वह नाद दीर्घ घंट-नाद की तरह क्रमशः शान्त, मधुर होने पर आत्मा और परमात्मा की एकता का अपूर्व अनुभव होता है; तथा परम आनन्द, शीतलता एवं सुख की अनुपम मस्ती में तल्लीनता प्राप्त होती है, उसे समापत्ति' कहा जाता है।

मणाविव प्रतिच्छाया, समापत्ति परात्मनः।
क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्यानादन्तरात्मनि निर्मले।।

— 'ज्ञानसार'

मणि की तरह निर्मल, क्षीण वृत्ति वाले अन्तरामा में एकाग्र ध्यान द्वारा जो परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है वही 'समापत्ति' है, अथवा अन्तरात्मा पर परमात्मा के गुणों का अभेद आरोप करना 'समापत्ति' है। उक्त अभेद-आरोप गुणों के संसर्गारोप के द्वारा सिद्ध होता है।

संसर्गारोप अर्थात् सिद्ध परमात्मा के अनन्त गुणों में अन्तरात्मा का एकाग्र उपयोग, ध्यान अथवा स्थिरता। संसर्गारोप भी चित्त निर्मल होने से से ही होता है।

समापत्ति की मुख्य सामग्री

(१) निर्मल ध्याता—निर्मल अन्तरात्मा (देह आदि भावों की केवल साक्षी हो।)

(२) शुद्ध ध्येय—पूर्ण शुद्ध स्वरूप प्राप्त परमात्मा। इस शुद्ध ध्येय के अभाव में यथार्थ समापत्ति सिद्ध नहीं हो सकती।

(३) शुभ ध्यान—सम्मान सहित एकाग्रता युक्त शुभ चिन्तन।

चित्त का आदर किसे है, किसके प्रति है, यह तथ्य साधक की साधना देह के निर्माण में महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

जड़ का सम्मान करने से, पौद्गालिक भावों का सम्मान करने से पुद्गल के विभिन्न आविष्कारों का सम्मान करने से, पुद्गल के रूप, रस, गंध आदि का सम्मान करने से आदरणीय परमात्मा का अपमान होता है जिससे फिर आत्मा का ध्यान सर्वथा विस्मृत हो जाता है।

उत्कृष्ट आदरणीय श्री अरिहन्त परमात्मा की उत्कृष्ट भाव से भक्ति करने से चित्त निर्मल, स्थिर एवं तन्मय होता है और तत्पश्चात् परमात्म-समापत्ति सिद्ध होती है।

यह समापत्ति सिद्ध होने पर जीव की समस्त आपत्तियों का अन्त होता है और आत्मा अनन्त चतुष्टयमय निज स्वरूप में मग्न होती है। इस मग्नता को नष्ट-भ्रष्ट करने की किसी संसारिक बल में शक्ति नहीं होती।

आशय-शुद्धि

□

भव-बन में भटकते जीवों को अनेक बार श्री अरिहन्त परमात्मा का शासन प्राप्त होता है फिर भी उन्हें मुक्ति क्यों नहीं मिलती? इस गहन प्रश्न का उत्तर यह है कि जीवों का अशुभ आशय मिटता नहीं और शुद्ध आशय प्रकट नहीं होता। यही कारण है कि उन्हें अरिहन्त परमात्मा का शासन प्राप्त होने पर भी मुक्ति नहीं मिलती।

श्री जिनोक्त अनुष्ठान करते समय यदि आशय शुद्ध नहीं होता है तो अनेक अनुष्ठान करने पर भी जीव शिव-सुख का भागी बनने के बदले संसार-चक्र में ही फँसा रहता है।

श्री जिनेश्वर प्रणीत कोई भी अनुष्ठान आशंसा रहित होकर करना चाहिये, उपयोग पूर्वक करना चाहिये, तो ही वह मोक्ष-फल-दायक सिद्ध होता है।

यदि वह अनुष्ठान करते समय इस लोक के सुखों से सम्बन्धित आशंसा (इच्छा) हृदय में हो अथवा परलोक सम्बन्धी सुख की आशंसा (इच्छा) हृदय में हो तो उक्त अनुष्ठान मोक्ष-फल-दायक नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, वह महान् अनर्थ का कारण भी हो जाता है, क्योंकि अशुद्ध आशय पूर्वक की गई आराधना से बँधने वाला पुन्य पापानुबन्धी होता है। अत: उस पुन्य के उदय से प्राप्त होने वाली सुख की सामग्री जीव को उस प्रकार के भ्रम-पूर्ण सुख में पागल बना कर, घोर कर्मों का उपार्जन कराके दुर्गति की खाई में ढकेलने वाली होती है और उपयोग के अभाव में बिना भाव के होने वाली क्रियाएँ भी शुभ भाव जागृत करने में निमित्त नहीं बनने से मोक्ष-फल-दायिनी सिद्ध नहीं होती।

अतः शास्त्र फरमाते हैं कि दीर्घ काल तक तपश्चर्या करके, चारित्र का पालन करने पर भी यदि आत्म-रति का स्पर्श नहीं हुआ तो सब व्यर्थ है।

जड़ के प्रति राग क्षीण होने पर ही जीव के प्रति द्वेष क्षीण होता है और उसके प्रभाव से आत्म-रति का स्पर्श होता है, शुद्ध आत्म-स्नेह प्रकट होता है।

राग-द्वेष का क्षय राग-द्वेष रहित श्री अरिहन्त परमात्मा की आज्ञानुसार आराधना से ही होता है।

'योग-बिन्दु' ग्रन्थ में पूज्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने पाँच प्रकार के अनुष्ठान बताये हैं। उसके संक्षिप्त स्वरूप का चिन्तन करने से साधक का आशय विशुद्ध होकर मोक्ष मार्ग की साधना के योग्य बन सके और स्व-साध्य को सिद्ध कर सके इस उद्देश्य से यहाँ उसका संक्षिप्त स्वरूप प्रदर्शित किया गया है।

पाँच प्रकार के अनुष्ठान

(१) विष, (२) गरल, (३) अननुष्ठान, (४) तद्हेतु और (५) अमृत।

विष अनुष्ठान—इस लोक में लब्धि, कीर्ति आदि की स्पृहा से किया जाने वाला महानतम अनुष्ठान भी 'विष-अनुष्ठान' कहलाता है; क्योंकि लब्धि, कीर्ति आदि की कामना से मोक्ष (कर्म-बंधन से सर्वथा मुक्ति) प्राप्त करने की विशुद्ध भावना का नाश होता है तथा महान् अनुष्ठान से तुच्छ पौद्गलिक सुख की प्रार्थना करने से उक्त महान् अनुष्ठान की लघुता हो जाती है। अतः ऐसे अनुष्ठान को विष-अनुष्ठान कहा जाता है जो विष की तरह तत्काल भाव-प्राण का नाश करता है।

विष द्रव्य-प्राणों का नाश करता है अतः मनुष्य उसे जीभ पर नहीं लगाते; उसी प्रकार से विवेकी आराधक भी अपने भाव-प्राणों का नाश करने वाले अशुद्ध आशय से, पौद्गलिक सुखों के तुच्छ आशय से अपने मन को विलग रख कर श्री जिनोक्त अनुष्ठान की आराधना करते हैं।

गरल अनुष्ठान—परलोक में देवता, चक्रवर्ती आदि के सुख की इच्छा से किया जाने वाला अनुष्ठान गरल-अनुष्ठान कहलाता है। उसमें भी केवल

पौद्गलिक सुख की ही स्पृहा होने से आध्यात्मिक मार्ग में उत्थान नहीं होता, जिसके बिना मुक्ति संभव ही नहीं है।

गरल भी एक प्रकार का विष है जिसके सेवन से धीरे-धीरे द्रव्य-प्राणों का नाश होता है; उसी प्रकार से गरल-अनुष्ठान भी परलोक में दैवी सुख अथवा चक्रवर्ती आदि के भोग-सुख में लीन करके भाव-प्राणों का नाश करता है।

आँख, कान, नाक, जीभ आदि द्रव्य-प्राण हैं; दया, पवित्रता, सन्तोष, धृति आदि भाव-प्राण हैं।

द्रव्य-प्राणों से स्थूल जीवन टिका रहता है, उसी प्रकार से भाव-प्राणों से आध्यात्मिक जीवन टिका रहता है और पुष्ट होकर समृद्ध बनता है।

आँख जितनी मूल्यवान है, उसकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान निर्मल दृष्टि है। निर्मल दृष्टि होने से पौद्गलिक सुख में मन नहीं चिपकता। इस प्रकार की निर्मल दृष्टि वाला व्यक्ति यदि प्रज्ञा-चक्षु (अंधा) होता है तो भी वह अपना आत्म-विकास कर सकता है; जबकि देख सकने वाला भी निर्मल दृष्टि विहीन व्यक्ति, सुबुद्धि विहीन व्यक्ति पथ-भ्रष्ट पथिक की तरह भटक-भटक कर दुःखी होता है।

अतः मुक्ति-कामी मनुष्य ऐसे अनुष्ठान से दूर रहते हैं।

अननुष्ठानः—इस अनुष्ठान में उपयोग रहित (भाव रहित) संमुर्च्छिम तुल्य क्रियाएँ होने से विशुद्ध भाव की उत्पत्ति नहीं होती।

यदि कर्म से मुक्त होने का भाव हृदय में होता है तो श्री जिनोक्त अनुष्ठान में भाव अवश्य जागृत होता है।

प्रत्येक जीव में भाव तो होता ही है, परन्तु जब तक वह ऋण-मुक्ति एवं कर्म-मुक्ति के विषयभूत नहीं होता, तब तक वह जीव की शुद्धि में परिणत नहीं होता।

ध्यान के विषय के रूप में जड़, स्वदेह, कंचन, कीर्ति, भौतिक सुखों, पाँच इन्द्रियों के विषयों, और तुच्छ स्वार्थ को रख कर कोई भी मनुष्य कदापि भव-स्थिति को परिपक्व नहीं कर सकता; क्योंकि ये समस्त पदार्थ आत्म-बाह्य हैं। अत: वे आत्मा के प्रति सद्भाव जागृत करने के बदले दुर्भाव जागृत करते हैं, सद्भाव का नाश करते हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्म-द्रव्य विषयक भाव के बिना श्रेष्ठ अनुष्ठान भी सप्राण नहीं बनता उसे अननुष्ठान कहते हैं।

तद्हेतु अनुष्ठान:—इस अनुष्ठान में साधक का भाव शुद्ध होता है, मोक्ष के आशय से युक्त होता है, बाह्य सुखों की कामना से रहित होता है अर्थात् साधक जो अनुष्ठान करता है वह केवल मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से ही करता है और उसे उस अनुष्ठान के प्रति श्री अरिहन्त परमात्मा जितना ही सम्मान होता है। यह अनुष्ठान आदरणीय है।

अमृत अनुष्ठान:—श्री जिनेश्वर देव प्रणीत जो अनुष्ठान शुद्ध आशय से किया जाता हो और जिसमें मोक्ष की ही तीव्र अभिलाषा हो, वह अनुष्ठान अ-मृत अर्थात् मृत्यु रहित मृत्युंजय मोक्ष का कारण बनता है।

अ-मृत क्रिया अर्थात् जीवित क्रिया, जड़ कर्मों का संहार करने वाली क्रिया, पुद्गल के राग को निष्क्रिय करने वाली क्रिया, चेतना जागृत करने वाली क्रिया।

'करेन्सी नोट' गिनने की क्रिया में धन-लोलुप व्यक्ति का जैसा भाव होता है वैसा ही भाव मुक्ति-प्रेमी साधक को श्री जिनोक्त क्रिया में होता है, मन को आत्मनिष्ठ बनाने वाले अनुष्ठान में होता है।

इस प्रकार का अनुष्ठान अमृत-अनुष्ठान कहलाता है।

अमृत अनुष्ठान का अधिकारी

सर्वज्ञ वीतराग श्री अरिहन्त परमात्मा द्वारा फरमाये हुए तत्त्व में जिसे पूर्ण श्रद्धा हो और जिसमें जड़-चेतन का विवेक हो, जो जन्म-मरण रूपी

दुःखमय संसार से मुक्त होने के लिये प्रबल पुरुषार्थी हो जो मोक्ष में ही सुख है इस सत्य को अस्थि-मज्जावत् बनाने वाला हो, जो चार गति युक्त संसार को पीड़ा कारक मानकर छोड़ने की भावना को दृष्टिगत रखकर जीने वाला हो और जो मोक्ष के लिये ही स्व भूमिका के योग्य अनुष्ठान करने वाला हो वह पुरुष अमृत-अनुष्ठान का अधिकारी है।

उपर्युक्त पाँच अनुष्ठानों में से प्रथम तीन अनुष्ठान प्रायः अचरमावर्त के जीवों को होते हैं और अन्तिम दो अनुष्ठान चरमावर्त स्थित जीवों को ही होते हैं।

तद्हेतु-अनुष्ठान द्वारा साधक जब अमृत-अनुष्ठान का अधिकारी बनता है, तब निर्मल एवं स्थिर चित्त में तन्मयता आती है।

अमृत क्रिया के लक्षण

तद्गत चित्त ने समय विधान,

भावनी वृद्धि, भव भय अति घणोजी।

विस्मय, पुलक, प्रमोद प्रधान–

लक्षण ए छे अमृत क्रिया तणोजी॥

[—पू. उपा. श्री यशोविजयजी म. विरचति—'श्री पाल रास']

विस्मय. पुलक एवं प्रमोद सद्वस्तु की प्राप्ति के हर्षातिरेक को सूचित करते हैं। यह हर्षातिरेक उत्पन्न करने वाला भव-भ्रमण का भय है। भव-भ्रमण का भय जितना तीव्र होगा, उतनी भाव की वृद्धि अधिक होगी। भाव की वृद्धि जितनी अधिक, उतनी आराधना में सावधानी और एकाग्रता अधिक होगी।

निर्भिक वही है जो देश, काल एवं कर्म के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो।

'स्वभाव से जो सचमुच भयानक हैं वे राग-द्वेष रूप संसार से भयभीत हों,—यह बात कहने वाले महर्षियों के इस कथन का तात्पर्य यह है कि जीव

के लिये यह राग-द्वेष रूप संसार सचमुच भयंकर है अतः उससे बचो, दूर रहो, अत्यन्त दूर रहो और जीव के लिये जो वास्तव में भद्रंकर है उस मुक्ति के लक्ष्य से श्री जिनोक्त अनुष्ठान करो, कराओ और अनुमोदना करो।

इस प्रकार तद्गत (एकाग्रता-युक्त) चित्त, समय की सावधानी (अप्रमत्त होकर शास्त्रोक्त विधि के अनुसार आचरण करने की तत्परता), भाव की वृद्धि, भव का अत्यन्त भय तथा विस्मय, पुलक एवं प्रमोद युक्त जिन-जिन अनुष्ठानों की आराधना हो वे सब अमृत क्रियाएें हैं। ऐसी क्रिया का फल शीघ्र प्राप्त होता है, उससे तात्त्विक परमात्म-दर्शन प्राप्त होता है और आराधना के बाह्य एवं अभ्यंतर समस्त प्रकार के विघ्न शीघ्र विलीन होते हैं।

मयणा सुन्दरी को परमात्म-दर्शन करके अमृत-क्रिया-जनित भाव का अमृतानुभव हुआ था जिससे वह स्वयं ही निश्चयपूर्वक कह सकी थी कि – "आज मेरे प्रियतम मुझे अवश्य मिलेंगे।"

अमृत क्रिया के द्वारा ही साधक परमात्म-तत्त्व के साथ समापत्ति सिद्ध कर सकता है। ऐसे अमृत अनुष्ठान के आराधक को अखिल विश्व जिनमय, परमात्ममय प्रतीत होता है। इसके लिये श्रीपाल महाराजा का उदाहरण अत्यन्त सुन्दर एवं उपयुक्त है।

सत्त्वमूर्ति महाराजा श्रीपाल जब श्री नवपदजी की आराधना में लीन होकर उनकी सार-गर्भित स्तुति करने लगे तब—

'सिरि सिरिवाल कहा' में वर्णन है कि—

"एवं च संथुणतो सो जाओ नवपएसु लीणमणो।
जहकहत्ति जहा पिक्खइ-अप्पाणं तन्मयं चेव॥
एवं च हिए अप्पाणमेव नवपयमयं वियाणित्ता।
अप्पंमि चेव निच्चं लीणमणा होह भो भविया॥"

अर्थः - इस प्रकार श्री नवपद की स्तुति करते हुए वे श्रीपाल महाराजा नवपद में लीन हुए। वे किसी भी वस्तु को जहाँ देखते वहाँ उन्हें नवपद ही दिखाई देते और आगे जाकर तन्मय-भाव सिद्ध होने पर उन्हें अपनी आत्मा भी नवपदमय प्रतीत होती। अतः हे भव्य जीवो! आप भी इस प्रकार अपनी आत्मा को नवपदमय जान कर आत्मा में लीन बनो।

उत्कट आराधक-भाव की जिस भव्यता एवं संगीनता से मढ़ा हुआ यह पाठ सिद्ध करता है कि महाराजा श्रीपाल उत्कृष्ट कोटि के आराधक थे।

नवपद में अपनी आत्मा को देखना और अपनी आत्मा में नवपद को देखना तब ही सम्भव होता है जब उनकी आराधना अमृत-अनुष्ठान के कक्षा की हो।

इस अभेद का आनन्द जो व्यक्ति प्राप्त कर सकता है वही सचमुच जान सकता है। उसका जो अमृताभिषेक उसकी समग्रता से होता है, उसमें आत्मानन्द ही छलकता है, जो परमात्मा के साथ अभेद सिद्ध करके साधक को स्वात्म-स्वरूप में एकरूप कर देता है।

यह समस्त योग साधना का फल है और यही प्राप्त करने योग्य है। उसकी लगन और रटन ही हमें साँस में पूरित करनी है, मन में स्थापित करनी है।

चाहे आराधना छोटी से छोटी हो अथवा श्री जिनेश्वर देव द्वारा बताये गये असंख्य योगों में से किसी एक योग की हो, तो भी जब साधक विष गरल एवं अननुष्ठान का अध्यवसाय छोड़कर 'तद्हेतु' अथवा 'अमृत' अनुष्ठान का आश्रय लेता है तो ही उक्त आराधना उसे मुक्ति-फल दायिनी सिद्ध होती है। इतना ही नहीं, चित्त की प्रसन्नता, निर्मलता एवं स्थिरता बढ़ने पर वह परमात्मा के साथ समापत्ति सिद्ध कराती है।

अतः श्री जिनेश्वर देव द्वारा प्ररूपित धर्म के अंगभूत प्रत्येक अनुष्ठान की आराधना पूर्ण श्रद्धा एवं अन्तर के अखंड आनन्द पूर्वक करना और

श्री अरिहन्त परमात्मा की तारणहार परम कृपा के पात्र बन कर उनके साथ समापत्ति सिद्ध करने के लिये प्रयत्नशील होना ही देव-दुर्लभ मानव-भव की सच्ची कृतार्थता है।

तत्त्व-त्रयी से समापत्ति

देव, गुरू और धर्म तत्त्व-त्रयी हैं।

देव, गुरू और धर्म तत्त्व की सम्यग् साधना से भी परमात्मा के साथ समापत्ति सिद्ध की जा सकती है।

वस्तुतः देव, गुरु और धर्म परस्पर जुड़े हुए हैं। एक की साधना, उपासना से शेष दो तत्त्वों की साधना, उपासना भी होती ही है।

इन तीन तत्त्वों में से किसी भी एक तत्त्व का विराधक वास्तव में तीनों तत्वों का विराधक बनता है।

देव-तत्त्व एवं समापत्ति

देव-तत्त्वः—देव के (परमात्मा के) दो स्वरूप हैं। (१) अरिहन्त स्वरूप, (२) सिद्ध स्वरूप।

श्री अरिहन्त परमात्मा विश्व को मोक्ष का मार्ग बताने का महान उपकार करते हैं।

सिद्ध भगवंत मोक्ष-मार्ग के पथिकों को सदा अपना शुद्ध स्वरूप प्रकट करने के ध्येय का स्मरण करा कर प्रेरणा प्रदान करके उन पर महान् उपकार करते हैं।

अगाध सागर में फँसी नौका को जिस प्रकार ध्रुव-तारा दिशा-निर्देश देकर सही मार्ग पर चलने की मूक प्रेरणा देता है, उसी प्रकार से सिद्ध परमात्मा भी भव-सागर में फंसी भव्य जीवों की जीवन-नौका के लिये ध्रुव-तारा बन कर सुमार्ग बता रहे हैं और मूक प्रेरणा दे रहे हैं कि, "हे भव्य

जीवो ! आपका स्वरूप मेरे ही समान शुद्ध है। आपके भीतर जो अशुद्धता प्रतीत हो रही है वह कर्म-कृत है। कर्म-रूपी मैल को दूर करके आप अपना शुद्ध स्वरूप प्रकट करो।"

इस प्रकार श्री अरिहन्त एवं सिद्ध परमात्मा भव्य जीवों को शुद्धात्म-स्वरूप का परिचय करा कर, उसे प्रकट करने के समुचित उपाय बताकर उन पर अनन्य उपकार करते हैं, जिससे उस परमात्म-तत्त्व की आराधना भी परमात्म-स्वरूप प्रकट करने के लिये समर्थ बनती है।

परमात्म-तत्त्व की आराधना नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव इन चार प्रकार से हो सकती है।

नाम आदि प्रत्येक भेद में परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है। चार भेदों में से किसी एक प्रकार से की गई परमात्मा की उपासना 'भाव-अरिहन्त' के दर्शन करा सकती है।

इन चार भेदों का विशद विवेचन करके उनसे किस प्रकार समापत्ति सिद्ध हो सकती है, यह पहले स्पष्ट कर दिया जा चुका है, अतः अब उसकी पुनरावृत्ति करना यहाँ आवश्यक नहीं है।

गुरू-तत्त्व और समापत्ति

गुरू-तत्त्व का स्तवन देव-तत्त्व जितना ही उपयोगी है उपकारक है।

देव-तत्त्व से परिचय कराने वाले, देव-तत्त्व के प्रति अनन्य श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न कराने वाले और उनकी आज्ञानुसार जीवन यापन करना सिखा-कर मुक्ति के पुनीत पथ पर प्रयाण कराने वाले भी सद्गुरू ही हैं।

श्री अरिहन्त परमात्मा जब मोक्ष सिधारते हैं तब श्री जिनशासन की पतवार आचार्य भगवंत को सौंपते हैं। अनेक प्रकार की अनेक आपत्तियों के मध्य आज तक श्री जिन शासन के भव्य भवन की सुरक्षा करने वाले सजग प्रहरी भी परमात्मा की परम्परा में पधारे हुए सुविहित आचार्य भगवंतों-रूप सुगुरू ही हैं। इसलिये ही तो शास्त्रकार भगवंतों ने मुक्त कंठ से फरमाया है

कि—'तित्थयर समोसूरि' अर्थात् आचार्य भगवंत को श्री तीर्थंकर परमात्मा के समान बताया है। अतः आज भी श्री चतुर्विध संघ सुविहित आचार्य भगवंत की आज्ञानुसार चलकर स्व-जीवन धन्य कर रहा है, सफल कर रहा है।

सुगुरू माता के स्थान पर है, सुदेव पिता के स्थान पर है। जीव सन्तान के स्थान पर है। जीव रूपी सन्तान को सुदेव रूपी पिता से परिचय सुगुरू रूपी माता कराती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सद्गुरू का स्थान अत्यन्त ही उच्च है।

अतः ज्यों-ज्यों हम गुरू-तत्त्व की उपासना करेंगे, उनकी आज्ञा का यथार्थ रूप से पालन करेंगे; त्यों त्यों उनकी परम तारणहार कृपा हम पर उतरेगी। उस कृपा के बल से स्वात्म-शक्ति का प्रादुर्भाव होता जायेगा जिसके फलस्वरूप साधक शुद्ध निजात्म स्वरूप का अनुभव भी कर सकेगा।

कहा भी है कि—

"गुरू भक्ति प्रभावेन–तीर्थकृद् दर्शनं मतं।
समापत्यादिभेदेन निर्वाणैक–निवन्धनम् ॥"

अर्थात् गुरू-भक्ति के प्रभाव से समापत्ति सिद्ध होती है और समापत्ति के द्वारा तीर्थंकर परमात्मा के दर्शन प्राप्त होते हैं और उन दर्शन से शीघ्र मुक्ति प्राप्त होती है। (अथवा तीर्थंकर नाम-कर्म निकाचित होता है, क्रमानुसार वह उस कर्म के उदय से तीर्थंकर बनता है।)

इस बात से गुरू-तत्त्व का महत्त्व सरलता से समझ में आता है।

गुरू-तत्त्व की उपासना मुक्ति-पद पर पहुँचा सकती है, परन्तु उसकी उपासना किस प्रकार की जाये? उसके लिये षोडशक ग्रन्थ में पूज्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने फरमाया है कि—

गुरूपारतंत्र्यमेव च, तद् बहुमानात्सदाशयानुगतम्।
परमगुरू प्राप्तेरिहबीजं-तस्माच्चमोक्ष इति ॥२-१०॥

अर्थ:—गुरु के प्रति आन्तरिक भक्ति पूर्वक उनके आशय को समझ कर तदनुसार व्यवहार करना। उनकी आज्ञा के ही अधीन रहना। यही परम गुरू परमात्मा की प्राप्ति का प्रमुख बीज है और मुख्यत: उससे ही आत्मा को मोक्ष प्राप्ति होने की बात कही गई है।

गुरू-तत्त्व की उपासना

"ये परम कृपालु गुरुदेव ही मुझे जलते हुए घर जैसे इस संसार में से बाहर निकालने वाले हैं, भव-सागर में डूबते मेरे लिये ये तरण-तारण-जहाज स्वरूप हैं, अज्ञान रूपी अन्धकार में भटकते मेरे लिये ये ज्ञान-दिवाकर हैं"—यह भावना हृदय में स्थापित करके, रोम-रोम में व्याप्त करके नित्य उनकी सेवा-भक्ति करनी चाहिये, गुरुदेव की भावना इंगित मात्र से समझ कर उनके आशय के अनुरूप ही आचरण करना चाहिये। यही गुरु-तत्त्व की सच्ची उपासना है।

शास्त्र में भी कहा है कि—

> आणाएच्चिय चरणं-तव्भंगे जाण किं न भग्गंति ।
> अणं व अइक्कंतो-कस्साएसा कुणइ सेसं ॥

तीर्थंकर परमात्मा ने आज्ञा की आराधना में ही चारित्र कहा है। उसका उल्लंघन होने पर फिर शेष क्या रहेगा? जिसने गुरू की अवहेलना की है, वह अब किसकी आज्ञा की आराधना करेगा? वह किसी भी आज्ञा का पालन नहीं करेगा।

चारित्र का गूढ़ रहस्य, आगमों की विद्या, मन्त्रों की सिद्धि तथा धर्म का गूढ़ तत्त्व-ये समस्त गुरू के अधीन होने से मोक्षार्थी को अपना जीवन गुरू की अधीनता में ही व्यतीत करना चाहिये।

अयोग्य के बन्धन से मुक्त होने के लिये योग्य का बन्धन, योग्य की परतन्त्रता अनिवार्य है। 'इदमत्र धर्मगुह्यम्'-यह धर्म का रहस्य है।

भव-भ्रमण जिसे सममुच अखरता हो, उसे उसमें से मुक्त कराने वाली गुरू की आज्ञा प्राणों के समान प्रिय लगती है।

गुरू की आज्ञा के अधीन रहने से उनका कृपा-पात्र बना जा सकता है अर्थात् निरन्तर बरसती हुई उनकी कृपा प्राप्त करने की पात्रता का विकास होता है। उस कृपा की शक्ति अपार है। वह कृपा-तत्त्व ही परम गुरू परमात्मा की प्राप्ति का मुख्य बीज है।

गुरू-कृपा फली भूत होने पर परमात्म-कृपा अविलम्ब फली-भूत होती है, अर्थात् जो गुरू-आज्ञा के आराधक होते हैं वे परमात्मा के आराधक अवश्य बनते हैं।

जिस व्यक्ति ने गुरू की आज्ञा की अवहेलना की है उसने परमात्मा की आज्ञा की भी अवश्य अवहेलना की है। इसलिये यहाँ गुरू की परतन्त्रता को परमात्म-प्राप्ति का मुख्य बीज बताया गया है।

आज्ञा की आराधना से मोक्ष प्राप्त होता है और विराधना से संसार-वृद्धि होती है।

इस प्रकार गुरू-तत्त्व की आराधना आत्मा को निर्मल बना कर, परमात्म-ध्यान में तन्मय बनाकर समापत्ति सिद्ध कराती है जो अवश्य ही मुक्ति-प्रद बनती है।

धर्म-तत्त्व एवं समापत्ति

वचनाराधनया खलु धर्मस्तद् बाधया त्वधर्मइति ।
इदमत्र धर्मगुह्य — सर्वस्वं चैतदेवास्य ॥

अर्थः—सर्वज्ञ के प्रवचन में कही गई आज्ञा की आराधना ही सत्य धर्म है और उसकी विराधना ही अधर्म है। श्री वीतराग-शासन में यही धर्म का गूढ़ रहस्य है और यही धर्म का सर्वस्व सार है।

विधि—निषेध का प्रतिपादन करने वाले परमात्मा के आगम रूप वचनों की प्रीति, भक्ति और सम्मान पूर्वक आराधना करने में ही रत्नत्रयी की सफलता है।

परमात्मा के एक भी वचन की विराधना करने वाला अनन्त अरिहन्तों की आज्ञा का विराधक बन कर अनन्त भव परम्पराओं में भटकता है।

समग्र आराधना का मूल श्री जिनाज्ञा ही है क्योंकि—

यस्मात्प्रवर्त्तकं भुवि-निवर्त्तकं चान्तरात्मनो वचनम्।
धर्मश्चेतसंस्थो–मौनीन्द्रं चैतदिह परमम्॥

इस धरातल पर अन्तरात्मा को विधेय कार्यों में प्रवर्त्तक एवं निषिद्ध कार्यों से निवर्त्तक केवल सर्वज्ञ उपदिष्ट प्रवचन ही हैं। परमार्थतः धर्म भी इन्हीं सर्वज्ञों के प्रवचनों में ही हैं, क्योंकि उनमें उत्कृष्ट कोटि के विशुद्ध तप, संयम, स्वाध्याय, दान, शील, तप, भाव आदि विधेय कार्यों में प्रवृत्त होने का एवं हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म आदि निषिद्ध कार्यों से दूर रहने का सुन्दर विधान किया गया है।

शास्त्रोक्त विधेय-प्रतिषेध्य कार्यों को समझ कर तदनुकूल आचरण करने वाले पुण्यात्मा परमात्म-आज्ञा के अनन्य आराधक बन सकते हैं और ऐसे पुण्यात्माओं पर परमात्मा और सद्गुरु की कृपा-दृष्टि होती है, जिसके द्वारा आगम के रहस्य ज्ञात करके, अनुभव-ज्ञान का आस्वादन करके वे पुण्यात्मा परमात्मा के साथ अभेद भाव सिद्ध कर सकते हैं।

अस्मिन् हृययस्थे सति-हृदयस्थे तत्त्वतो मुनीन्द्र इति।
हृदयस्थे च तस्मिन्-नियमात् सर्वार्थ-संसिद्धिः॥

अर्थः—सर्वज्ञ परमात्मा के वचन-सिद्धान्त को हृदयस्थ करने से, परमार्थ से सर्वज्ञ परमात्मा की ही हृदय में स्थापना की जाती है और परमात्मा हृदयस्थ बनने से समस्त प्रकार की अभीष्ट सिद्धियें अवश्य प्राप्त होती हैं।

अर्थात् परमात्मा के वचनों का आदर पूर्वक पालन करने वाले परमार्थ से परमात्मा का ही सम्मान करते हैं और परमात्मा के वचनों को, उनकी आज्ञा को हृदय में स्थान देने वाले साधक वस्तुतः परमात्मा को ही अपने मन-मन्दिर में बिराजमान करते हैं और जब परमात्मा मन-मन्दिर में पधारते हैं तब साधकों को समस्त प्रकार की अभिष्ट सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है।

किसी राजा की आज्ञा उसके राज्य तक ही सीमित होती है, वासुदेव की आज्ञा तीन खण्ड तक सीमित होती है, चक्रवर्ती की आज्ञा छः खण्ड तक व्याप्त होती है, जबकि श्री अरिहन्त परमात्मा की आज्ञा त्रिलोकव्यापी होती है; अर्थात् श्री अरिहन्त परमात्मा की आज्ञा का त्रिभुवन पर एक छत्र-शासन है।

अतः राजा, वासुदेव अथवा चक्रवर्ती की आज्ञा उल्लंघन करने वालों को जो दण्ड भोगना पड़ता है उससे भी अधिक दण्ड श्री अरिहन्त परमात्मा की आज्ञा की अवहेलना करने वालों को भुगतना पड़ता है। इसके अनुसार ही राजा, वासुदेव अथवा चक्रवर्ती की आज्ञा पालन करने वालों को जो लाभ होता है उससे अनन्त गुना लाभ श्री अरिहन्त परमात्मा की आज्ञा के आराधकों को होता है।

आज्ञा देने वाला कौन है यह प्रमुख बात है।

इसलिये ही तो पूज्य श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने वीतराग स्तोत्र में फरमाया है कि—

आज्ञाराद्धा विराद्धा च शिवाय च भवाय च ॥

(आज्ञा की आराधना मोक्ष के लिये और विराधना संसार के लिये होती है।)

अतः श्री अरिहन्त परमात्मा के अंगभूत आगमों की आराधना अत्यन्त ही आदर पूर्वक करनी चाहिये। परमात्मा की आज्ञा का उपकारी स्वरूप शास्त्रों के अध्ययन, चिन्तन, परिशीलन द्वारा ज्ञात किया जा सकता है; और

जिनका चित्त शास्त्राध्ययन, चिन्तन एवं परिशीलन से सुवासित होता है वे जड़ एवं चेतन पदार्थों के विविध स्वरूपों तथा उनके स्वभावों से परिचित होने से इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के संयोग-वियोग में चित्त का सन्तुलन बनाये रख सकते हैं।

आत्म-चिन्तन एवं कर्म-विपाक के चिन्तन में भी शास्त्राध्ययन अनन्य सहायक होता है।

विश्व में प्रतीत होती विविधता एवं विलक्षणता के पीछे उनका हेतु केवल कर्म है। प्रत्येक जीव स्व-कृत कर्म के वश में होकर शुभाशुभ फल भोगता है। इन कर्म-परतन्त्र जीवों के प्रति शास्त्र-मर्मज्ञ पुरुष कदापि राग अथवा द्वेष नहीं रखते। वे तो कर्म की विचित्रता का विचार करके सदा सम-भाव धारण करते हैं अथवा करुणा आदि भाव प्रदर्शित करते हैं।

कर्माधीन जीव को इस संसार में राग-द्वेष की वृत्तियें उत्पन्न हो जायें ऐसे अनेक प्रसंग एवं निमित्त प्राप्त होते हैं, परन्तु यदि चित्त में शास्त्रों का बोध व्याप्त हो, सद्गुरु की उपासना के द्वारा विधि पूर्वक शास्त्राभ्यास किया हुआ हो और उसके रहस्यों का हृदय-स्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया हो तो उस प्रकार का कोई प्रसंग अथवा निमित्त चित्त को विचलित नहीं कर सकता।

समस्त नयों के ज्ञाता मुनिवर निश्चय, व्यवहार अथवा ज्ञान क्रिया में एक पक्षीय आग्रह छोड़ कर, ज्ञान-गरिष्ट शुद्ध भूमिका पर आरूढ़ होकर केवल पूर्ण, शुद्ध स्वरूप का लक्ष्य रख कर परमानन्द का अनुभव करते हैं।

आगम-सम्बन्धी ज्ञान की परिणति वाले मुनिवरों की चित्त-वृत्ति अत्यन्त निर्मल एवं स्थिर होती जाती है, जिससे वे आत्मा एवं परमात्मा के ध्यान में तन्मय हो सकते हैं और ऐसे ध्यान-मग्न मुनिवर को समता की प्राप्ति होती है।

धर्म का चरम रहस्य जिनके प्रत्येक अंग में व्याप्त है उन जिनागम द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर प्रयाण किये बिना समता तथा मुक्ति प्राप्त करना नितान्त असम्भव है।

श्री जिनागम तत्त्वतः जिन स्वरूप हैं। उनकी आराधना अर्थात् उनके द्वारा निर्दिष्ट अनुष्ठान के सेवन से समस्त प्रकार की सिद्धियाँ सुलभ होती हैं।

इस प्रकार की अटूट श्रद्धा के साथ ससम्मान शास्त्र-वचनों का पालन करने वाले साधक के हृदय में जिन-वचन के रूप में तत्त्वतः श्री जिनेश्वर देव ही बिराजमान होते हैं।

अतः आगम-शास्त्रों को श्री जिनेश्वर देव तुल्य मान कर उनकी विधि पूर्वक, सम्मान पूर्वक आराधना करने से श्री जिनेश्वर देव की आराधना का लाभ प्राप्त होता है।

आप्त महापुरुषों के मुख से निकले हुए होने से आगम मन्त्र-स्वरूप हैं। अतः श्री नक्कार महामन्त्र भी आगम है। उसके प्रत्येक अक्षर को श्री अरिहंत परमात्मा तुल्य मान कर उसका निरन्तर स्मरण करने वाला साधक अन्त में अरिहन्त में तन्मयता प्राप्त करके निज आत्मा को अरिहन्त-स्वरूप में देखता है तथा अरिहन्त में निज आत्मा को निहारता है फिर दो मिट कर एक होने अभेद से सिद्ध हो जाता है।

श्री अरिहन्त परमात्मा को समस्त आप्त पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इस सत्य में निष्ठा रख कर उनसे पर्दा नहीं रखने वाला साधक उनकी असीम कृपा पाकर सकल जीव-लोक का आत्मीय होकर परम-पद प्राप्त करता है।

परम पुरुष परमात्म-स्वरूप में किया गया आगम का ध्यान आत्म-सत्ता में विद्यमान परमात्म स्वरूप को प्रकट करता है, आगम एक शास्त्र है। उनके अध्ययन से शब्द-ब्रह्म का ज्ञान होता है। शब्द-ब्रह्म पर-ब्रह्म का वाचक है। शब्द-ब्रह्म के बोध से अनुभव-ज्ञान प्रकट होता है। स्व संवेद्य-अनुभव के द्वारा पर-ब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति होती है।

'परम तारणहार श्री अरिहन्त परमात्मा ही समस्त आत्माओं के समस्त शुभ मनोरथ पूर्ण करने वाले हैं'—यह विधान श्री अरिहन्त परमात्मा द्वारा प्रकाशित धर्म के अंग-भूत आगम-ग्रन्थों के अनुसार प्रवत्ति करने से सर्वथा सचोट सिद्ध होता है।

श्री जिनराज की आज्ञा का सूर्य जिनमें चमक रहा है, उन आगम शास्त्रों का रस आत्मा को स-रस बना कर 'सम रसी भाव' की भूमिका पर पहुँचाता है। इसका ही दूसरा नाम 'समापत्ति' है, जिसके द्वारा अनालम्बन योग तथा केवल ज्ञान एवं मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।

अतः परम-आत्मरसिकता उत्पन्न करने वाले आगमों को जितने नमस्कार किये जायें उतने कम हैं।

देव, गुरु एवं धर्म तत्त्व की आराधना के द्वारा वास्तव में तो परमात्म-तत्त्व की ही आराधना होती है, क्योंकि देव तत्त्व में श्री अरिहन्त एवं सिद्ध परमात्मा की आराधना आ गई और गुरु तत्त्व में परम गुरु परमात्मा एवं उनके द्वारा फरमाये हुए सर्व श्रेयस्कर धर्म को समर्पित एवं विश्व को भी समर्पित होने का उपदेश देने वाले सद्गुरु की आराधना आ गई।

जिनकी उपासना के द्वारा परमात्म-तत्त्व की ही उपासना होती है और जिनकी कृपा के भाजन बनने से परम पिता की कृपा का भाजन बना जा सकता है—ऐसे गुरु-तत्त्व की उपासना द्वारा भी परमार्थ से परम आत्म-तत्त्व की ही उपासना होती है।

धर्म-तत्त्व की उपासना से तो परमात्म-तत्त्व की ही उपासना होती है, क्योंकि धर्म-तत्त्व अर्थात् परमात्मा की आज्ञा और उसका पालन अर्थात् धर्म-तत्त्व की उपासना।

इस प्रकार तीनों तत्त्वों की उपासना परमार्थ से परम आत्म-तत्त्व की ही उपासना है और परमात्म-तत्त्व की उपासना के द्वारा साधक परम आत्म पद प्राप्त करके शाश्वत सुख का स्वामी बनता है।

योगियों की माता एवं निर्वाण फलदायिनी समापत्ति :—

पू० श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज षोडशक ग्रन्थ में फरमाते हैं कि—

"चिन्तामणिः परोऽसौ-तेनैव भवति समरसापत्तिः।

सैवेह योगीमाता-निर्वाणफलप्रदा प्रोक्ता ॥"

अर्थः—ये परमात्मा चिन्तामणि रत्न से भी उत्कृष्ट रत्न-स्वरूप हैं, क्योंकि इनसे ही आत्मा को उपशम रस की प्राप्ति होती है और महर्षियों ने इस उपशम-रस प्राप्ति को ही योगियों की माता और निर्वाण फल दाता कहा है।

त्रिभुवन में समस्त प्राणियों के प्रति अधिकतम रुचि यदि किसी को हो तो वह श्री अरिहन्त परमात्मा को ही है। अतः उनका स्मरण, मनन, चिन्तन एवं ध्यान करने वाले को आत्मा में रस आता है। यह रस पुष्ट होकर समरसी-भाव बनता है।

इस समरसी भाव वाले योगी के मन में कहीं भी भवभाव नहीं रहता अतः इस भाव को निर्वाण फल-प्रद कहा है।

चिन्तामणि रत्न तो हमें केवल चिन्तित वस्तुएँ ही प्रदान करता है, जबकि श्री अरिहन्त परमात्मा तो अचिन्त्य चिन्तामणि होने के कारण अचिन्तित स्वर्ग एवं अपवर्ग के सुख भी प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं, परन्तु उनकी सेवा सेवक को सेव्य बना देती है, भक्त को भगवान बना देती है, पतित को पावन कर देती है और कर्म-कलंक युक्त आत्मा को कर्म-कलंक से मुक्त कर देती है।

उनकी उपासना से आत्मा में आसन जमाने की वृत्ति प्रबल होती है। वृत्ति की उस प्रबलता का प्रवृत्ति में संचार होता है। उसमें से सांसारिक भावों की निवृत्ति का जन्म होता है, तत्पश्चात् परमात्म-प्रियता का उदय

होता है। तब पूर्ण आकाश को भरने वाले पूर्ण चन्द्र के प्रकाश का स्वाद समस्त प्राणों को स्पर्श करता है और उसमें से समरसी भाव का जन्म होता है। साधक की आत्मा परमात्मा के साथ अभेद होकर समतापूर्ण हो जाती है। इसे ही समापत्ति कहते है जिसमें 'तत् त्वम् असि' का सम्पूर्ण रहस्य जीवित होता है।

योगियों के समस्त कार्यों की सिद्धि इस परमात्मा के द्वारा ही होती है। इसलिये ही इसे योगियों की 'माता' कहा गया है।

'समापत्ति' प्रवचन-माता भी है, क्योंकि मनोगुप्ति के तीन प्रकारों में दूसरा और तीसरा प्रकार समापत्ति को ही बताता है।

मनोगुप्ति के तीन प्रकार

(१) कल्पना जाल से रहित होना मन की निर्मलता है।

(२) समत्व में सुस्थित होना मन की स्थिरता है।

(३) आत्म-स्वभाव में रमणता वह मन की तन्मयता को ध्वनित करती है।

चित्त की आत्म-परमात्म-तत्त्व में तन्मयता समापत्ति है।

यह समापत्ति सिद्ध होने पर आत्मा को अवश्य मोक्ष प्राप्त होता है।

जिस प्रकार ईयल भ्रमरी का ध्यान करने से भ्रमरी हो जाती है, उसी प्रकार से योगी परमात्मा का समापत्ति रूप ध्यान करने से परमात्म अवस्था को, मोक्ष भाव को प्राप्त करते हैं। अतः महर्षियों ने 'समापत्ति' को मोक्ष-फल-दायिनी कहा है।

इस प्रकार तत्त्व-त्रयी की उपासना से रत्न-त्रयी की प्राप्ति करके, परमात्मा के साथ समापत्ति सिद्ध करके क्रमशः सिद्ध पद प्राप्त किया जा सकता है। रत्न-त्रयी अर्थात् सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र।

इस तत्त्व-त्रयी एवं रत्न-त्रयी की उपासना अनन्त आत्माओं को मुक्ति प्रदान की है और भविष्य में भी अनन्त आत्मा इसकी उपासना करके इस अपार भाव-सागर को पार करके मुक्ति पद प्राप्त करेंगी।

समस्त सुज्ञ साधक इसी तत्त्व-त्रयी एवं रत्न-त्रयी की अनन्य उपासना में लीन होकर परम आत्म-तत्त्व को प्राप्त करके अपना जीवन सार्थक करें।

अनुभव के उद्गार

समापत्ति के द्वारा परमात्मा का तात्त्विक दर्शन होने पर साधक की मनोदशा में परिवर्तन होता है, जिसे हम कुछ अनुभव-सिद्ध महात्माओं के वचनों के आधार पर सोचें।

अव्याबाध सुख के अभिलाषी को सर्वप्रथम तो अनादि काल से जो बाह्य पौद्गाथिक पदार्थों के संयोग में आत्मा को 'सुख' का भ्रम था वह मिट जाता है और वह सुख उसे क्षणिक एवं अनन्त दुःखों की परम्परा का सर्जक प्रतीत होता है। अतः उन सुखों की प्राप्ति के लिये अन्धी दौड़-धूप करना वह छोड़ देता है।

परमात्म-दर्शन द्वारा अपनी आत्मा में विद्यमान अव्याबाध सुख का जो आंशिक अनुभव हुआ है उसे ही पूर्णतः प्रकट करने का वह पुरुषार्थ करता है, अर्थात् जब तक उसे विषय-सुखों की अभिलाषा थी, तब तक वह उनको प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता, पुरुषार्थ करता; परन्तु जब वह परमात्म-दर्शन से किसी को भी बाधक नहीं बनने वाले अव्याबाध सुख का अभिलाषी बनता है, तब उसे प्राप्त करने के लिए ही वह पुरुषार्थ करता है। कहा है कि—

"रुचि अनुयायी वीर्य चरण धारा सधे" अर्थात् जिस व्यक्ति की जिस विषय में रुचि होती है, तद्नुसार उसमें वीर्य स्फुरित होता है।

इसके अनुसार अब तक जो षट्कारक का चक्र उलटा चलता था, अर्थात् कर्त्ता आदि के अभिमान से पौद्गालिक भावों में ही उलटी गति कर रहा

था, वह अब सीधी गति पकड़ने लगा। अतः ग्राहकता, स्वामित्व कारणता और कार्यता आदि अपने आत्म-स्वभाव के होते हैं।

अर्थात् आज तक वह वैषयिक सुखों का ग्राहक था। अब वह अव्याबाध-सुख के भोक्ता परमात्मा को देख कर अव्याबाध सुख की रुचि होने से उसका ग्राहक हो गया।

आज तक वह धन, स्त्री, परिवार आदि पर स्वामित्व की बुद्धि रखता था, वह अनन्त ज्ञान आदि सम्पत्ति के स्वामी परमात्मा को देख कर अपनी (आत्मा की) अनन्त ज्ञान आदि गुण सम्पत्ति पर स्वामित्व की बुद्धि रखने लगा।

आज तक वह पर-भाव में व्यापक था, पर अब वह स्वभाव में, आत्मानन्द में और उसके साधन में व्यापक रहने लगा।

आज तक वह पर-भाव (पौद्गलिक भाव) का भोक्ता था। अब वह स्वभाव-भोगी परमात्मा का पावन दर्शन करके स्वभाव-भोगी बनने लगा।

आज तक वह आठ कर्म रूपी उपाधि का उपादान कारण था, पर अब वह शुद्ध स्वरूपी, निष्कर्म परमात्म-तत्त्व के दर्शन करके शुद्ध स्वरूप का उपादान कारण बना।

आज तक वह आठ कर्मों के आश्रव रूप कारण का कर्त्ता था, अब वह संवर, निर्जरा का कर्त्ता बना।

इस प्रकार अकल्पनीय शक्ति-सम्पन्न परमात्मा के पावन दर्शन से आत्मा को स्वयं में अप्रकट रूप से विद्यमान अकल्पनीय आत्म-शक्ति के दर्शन होने से वह उसे ही प्रकट करने का पुरुषार्थ करता है।

तथा अब तक उसे जिस पुन्य-प्रकृति के उदय में श्रद्धा थी, पर अब उसे निःकर्मा, अव्याबाध-सुख-निधान आत्म-तत्त्व में श्रद्धा होती है, और 'वही मेरा साध्य है' इस प्रकार की यथार्थता का ज्ञान होता है और वह उसमें रमण करता है।

आत्म-तत्त्व में श्रद्धा रूप सम्यग्-दर्शन, उसकी यथार्थता के ज्ञान रूप सम्यग्-ज्ञान और उसमें रमणता रूप सम्यक्-चारित्र, इस प्रकार तात्त्विक रत्न-त्रयी की प्राप्ति होती है।

अज्ञान के कारण आत्मा जो कर्म-पुद्गलों का ही दान करती थी, उसकी प्राप्ति एवं संचय में ही लाभ मानती थी, उसके ही भोग-उपभोग में मग्न रहती और अपनी समस्त वीर्य शक्ति भी कर्म-पुद्गलों के बन्धन-संक्रमण आदि में ही व्यय करती थी; वह अब ज्ञान आदि गुणों के दान द्वारा अन्य गुणों की पुष्टि करने लगती है, उससे अनन्त गुनी गुण-सम्पत्ति का लाभ लेकर उसके भोगोपभोग में लीन रहती है और अपनी वीर्य-शक्ति भी उन गुणों को ग्रहण करने में, उनकी रक्षा करने आदि में सार्थक करती है।

एक समय जिसके मन का समग्र रुझान संसाराभिमुख था, पुद्गलाभिमुख था, वह अकल्पनीय शक्ति-सम्पन्न परमात्मा के दर्शन करने के पश्चात् आत्माभिमुख होकर उसकी ही साधना में सक्रिय हो गया।

इस प्रकार परमात्म-दर्शन होने पर साधक की मनोदशा में भारी परिवर्त्तन हो जाता है।

जिन महात्माओं को परमात्मा के वास्तविक दर्शन प्राप्त हुए हैं, उनका अलौकिक तेज उनके उद्गारों में दृष्टिगोचर होता है।

यहाँ हम महायोगी श्री आनन्दघनजी महाराज के अन्तःकरण में उमड़े अलौकिक आनन्द का उन्हीं के शब्दों में पान करें।

परमात्म दर्शन

उन्होंने तेरहवे तीर्थंकर भगवान श्री विमलनाथ की स्तुति करते हुए फरमाया है कि—"हे विमलनाथ जिन ! मैंने आज आपको अपने अनुभव ज्ञान रूपी नेत्रों से निहारा है, अतः आज तक आपके पवित्र दर्शन प्राप्त करने के जो मनोरथ मैंने बनाये थे वे सफल हो गये हैं।"

यहाँ समझना यह है कि इस प्रकार के प्रभु-दर्शन केवल चर्म-चक्षुओं से नहीं प्राप्त होते। ये तो निर्मल मन रूप चक्षु से प्राप्त हो सकते हैं, निष्कपट भक्ति रूप चक्षु से प्राप्त किये जा सकते हैं।

जब भक्ति शत-दल कमल की तरह सुविकसित होती है, सोलहों कलाओं से उदित चन्द्र की तरह खिल उठती है, तब भक्तात्मा को भगवान के दर्शन होते हैं, और फिर भक्त का आत्म-विश्वास पराकाष्ठा पर पहुँच कर जो उद्गार प्रकट करता है वे अब श्री आनन्दघनजी के शब्दों में ही सोचें।

'हे नाथ ! आपके त्रिभुवन-क्षेमंकर दर्शन की प्राप्ति होने से मेरे दु ख और दुर्भाग्य का निवारण हो गया है और यथार्थ सुख-संपत्ति की प्राप्ति हो गई है क्योंकि आपके समान समर्थ स्वामी को मैंने अपना सिरमौर बनाया है।"

ये सिरमौर बनाने के शव्द श्री सिद्ध भगवंतों के सन्दर्भ में भी लिये जा सकते हैं और श्री जिनेश्वर भगवान को मन-मन्दिर में बिराजमान करने के सन्दर्भ में भी लिये जा सकते हैं।

यदि सूर्य के समीप रहने वाले को अंधकार अड़चन रूप नहीं होता हो तो जिसके हृदय-मन्दिर में समर्थ परमात्मा विराजमान हो, उसे कौनसी निर्माल्यता, कायरता परेशान कर सकती है ?

अतः आनन्दघनजी फरमाते हैं कि 'अब राग-द्वेष और विषय-कषाय रूपी सत्वहीन पदार्थ मेरा कुछ नहीं विगाड़ सकते।'

'हे विमलनाथ स्वामी ! केवल-लक्ष्मी ने निर्मल एवं स्थिर आपके चरण-कमल (आपका यथाख्यात चारित्र-कमल) निहारे, जिससे कर्म-मल-युक्त एवं अस्थिर कमल रूपी स्थान त्याग कर आप श्री के चरण-कमल (चारित्र रूपी कमल) का आश्रय ग्रहण किया है।'

"अत: हे नाथ ! मेरा मन गुण-पराग-समृद्ध आपके चरण (चारित्र) रूप-कमलों में मुग्ध बना है जिससे उसे स्वर्णमय मेरु पर्वत, देवराज इन्द्र एवं नागेन्द्र आदि भी आकृष्ट नहीं कर सकते।'

"जो आत्मा के अनन्त ज्ञानादि गुणों में पूर्णत; प्रतिष्ठित हैं, उन पर-मात्मा के चरण-कमलों की सेवा भक्त-मधुकर को मालती पुष्प की तरह नित्य सेव्य प्रतीत होती है। यथाख्यात चारित्रवान् परमात्मा की इस प्रकार की सेवा सच्चारित्र प्रद सिद्ध होकर असत् पदार्थों की सेवा करने का मोह दूर करती ही है।

रोते हुए बालक को अपनी जननी की गोद मिलने पर उसे संसार की अन्य कोई भी वस्तु आकर्षित नहीं कर सकती।

"उसी प्रकार से हे भगवन् ! आपके समान समर्थ, उदार, अपार वात्सल्यमय, परम आप्त और इस आत्मा के माता तुल्य आप जैसे स्वामी को पाकर अब मुझे क्या चाहिये ? विश्व में अनन्त भवों में भी प्राप्त न हों सके ऐसा सब कुछ मैंने प्राप्त कर लिया है। अतः अब मैं भला आपको कैसे छोड़ सकता हुँ ?"

"हे स्वामी ! त्रिभुवन की समस्त शक्ति एकत्रित होकर यदि मुझ पर आक्रमण करे तो भी विचलित नहीं होने वाली इस आत्मा के परम आराध्य-देव ! अब आप ही मेरे सर्वस्व हैं, मेरे प्रियतम हैं, मेरी आत्मा के वास्तविक आधार हैं"।

"हे प्रभु ! जिस प्रकार सूर्य की किरणों का समूह विश्व पर प्रसारित होते ही सघन अंधकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार से आपका पावन-दर्शन (ज्ञान-रूपी चक्षुओं से) करने पर इस आत्मा में अनादि काल से जमे हुए

अज्ञान अश्रद्धा और मिथ्या वासना आदि तुरन्त नष्ट हो जाते हैं और निर्मल सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति होती है।"

"हे देवाधिदेव ! आपका दर्शन सचमुच परम तारणहार है, भव-भय-संहारक है, राग-द्वेष-मारक है और समस्त जीव लोक के लिये परम मंगल कारक है। समस्त आत्मा की आँख रूपी समकित के द्वारा ये दर्शन प्राप्त करके मैं कृत-कृत्य हो गया हूँ।"

"हे परम तारणहार प्रभु ! आपके परम तारणहार 'दर्शन' का ही मूर्तिमंत साकार स्वरूप मुझे आपकी मनमोहक मूर्त्ति में भी देखने को मिला है। आपकी मूर्त्ति भी सचमुच आप जैसी है। यह अमृत के महासागर में से ही निर्मित प्रतीत होती है, सघन समता में से बनी हुई लगती है। उसमें से प्रवाहित होते अमृत-रस का, समता-रस का जो एक बार भी (ज्ञान-लोचनों से) पान कर लेते हैं, वे सचमुच अजर-अमर मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं। अतः इस प्रकार की अनुपम, नयनाभिरम्य मूर्त्ति को अनुभव-योगी भी निरूपम कह कर भजते हैं, उन्हें उसके लिये अन्य कोई उपमा नहीं मिलती। समस्त उपमाएँ परमात्मा की मूर्त्ति के लिये अपूर्ण प्रतीत होती हैं। प्रभु आपकी तरह आपकी मूर्त्ति भी अनुपम है,।"

"हे प्रभु ! अमूर्त आत्मा के मूर्त्तिमंत स्वरूप का दर्शन कराने वाली आपकी मूर्त्ति भी आपके ही समान शान्त-सुधा-रस-सिक्त प्रतीत होती है। अतः उसे निहारने में तृप्ति मिलती ही नहीं, मन वहाँ से हटने का नाम तक नहीं लेता। चुम्बक की तरह आपकी मूर्त्ति इस आत्मा को आपकी ओर ही आकर्षित कर रही है, आपकी ओर प्रेरित कर रही है इस अभिमुखता का आनन्द तो जो अनुभव करते हैं वे ही जान सकते हैं।"

"हे विमल जिनेश्वर देव ! आपके विमल दर्शन से मेरा मन कदापि नहीं ड़िगे, परम तन्मय होकर दर्शन करता ही रहे ऐसी परम कृपा मैं आपके समान परम कृपा-निधान से माँगता हूँ। आपके चरण-कमलों की सेवा में ही नित्य मग्न रहने की मैं याचना करता हूँ।"

इस भक्ति-पूर्ण स्तवन में पूज्य श्री आनन्दघनजी महाराज की आत्मा का जो आनन्द उमड़ता है वही इस बात का प्रमाण है कि एक बार भी जिसे परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं, श्री अरिहन्त परमात्मा के त्रिलोक-तारक भाव का स्पर्श हो जाता है, उसे परम तारणहार के अनुपम आत्म-द्रव्य का ध्यान मिलता है; उसका समग्र मन, उसका रोम-रोम उस परमात्मा के परम सामर्थ्य में सराबोर हो जाता है, रंग जाता है और उसके परिणाम-स्वरूप ही इस प्रकार के स्तवन अथवा अकथ्य आनन्द को व्यक्त करने वाले शब्द उसके हृदय में से टपक पड़ते हैं।

इस प्रकार हमने पूज्य अध्यात्म-योगी श्री आनन्दघनजी महाराज के परमात्म-दर्शन के पश्चात् के हृदयोद्गार देखे। अब हम पूज्य उपाध्याय भगवंत श्री यशोविजयजी गणिवर के हृदयोद्गारों की ओर तनिक दृष्टि डालें।

उन्हें तो दर्शन होने पर परमात्म-दर्शन की दुर्लभता समझ में आ गई। अतः साधकों को उन्होंने दर्शन की दुर्लभता का भान कराने के साथ, प्रमाद त्याग कर परमात्म-दर्शन करके, मानव-जीवन सार्थक करने के अमूल्य निर्देश दिये हैं।

तेरहवें तीर्थंकर श्री विमलनाथ जिनेश्वर देव की स्तुति करते हुए वे फरमाते हैं कि, "हे भव्य जीवों ? आप श्री विमलनाथ प्रभु की उपासना करो क्योंकि सज्जनों की संगति प्राप्त होना अत्यन्त ही दुर्लभ है। अनादि काल से यह आत्मा कुसंगति के कारण भव-भ्रमण कर रही है, जिससे अनन्त शक्ति-निधान, चैतन्य आत्मा पर कर्म-सत्ता का आधिपत्य भी चलता रहा है। आत्मा की यह दयनीय दशा दूर करने के लिये उत्तम पुरुष की संगति नितान्त आवश्यक है। उत्तम पुरुषों की संगति फल-प्रद तब ही सिद्ध होती है जब उनके प्रति पूज्य-भाव प्रकट होता है, उनके वचनों के प्रति अगाध श्रद्धा जागृत होती है और तदनुरूप जीवन यापन करने के निरन्तर प्रयास होते रहते हैं।

मुख्य बात तो यह है कि उत्तम गुणवान पुरुषों की संगति सचमुच दुर्लभ है। दूर से उनके दर्शन होना भी दुर्लभ है। फिर भी भव्य जीवो के

लिये तो इन श्री विमलनाथ प्रभु के दर्शन सुलभ हैं मानो किसी आलसी व्यक्ति के आंगन में ही गंगा प्रकट हो गई हो और अल्प प्रयत्न से ही उसमें स्नान करने का अवसर मिल गया हो।

कारण यह है कि भव-वन में दुर्दशा-ग्रस्त होकर भटकते हुए जीवों को मानव-भव, आर्य-देश, उत्तम कुल और धर्म-श्रवण करने का योग प्राप्त होना अत्यन्त ही दुर्लभ है; परन्तु हे भव्य जीवो ! आपको तो साधना के अनुकूल यह सब सामग्री उपलब्ध हो गई है (घर-आंगन) में प्रकट गंगा की तरह)। अतः अब तो तनिक पुरुषार्थ करो और ग्रन्थि-भेद करके सम्यग्-दर्शन प्राप्त करो; इतनी ही देरी है परमात्मा-दर्शन होने में; क्योंकि सम्यग्-दर्शन अर्थात् वास्तविक अर्थ में आत्म-दर्शन और आत्म-दर्शन अर्थात् यथार्थ परमात्म-दर्शन।

यह सब उत्तम सामग्री उपलब्ध होने पर जो व्यक्ति परम आत्म-दर्शन हेतु पुरुषार्थ न करके प्रमाद करता है, वह मूर्ख-शिरोमणि है।

जिस प्रकार क्षुधातुर व्यक्ति को कोइ दयालु मनुष्य आकर घेवर देने का प्रयत्न करे तो भी वह आलस-वश अपना हाथ भी लम्बा न करे तो वह कितना मूर्ख माना जायेगा ? बस इस प्रकार ही प्रमादी मनुष्य को स्तवन-कार भगवन्त ने मूर्ख-शिरोमणि की उपमा दी है।

जिसे क्षुधा का दुःख कुरेदता हो वह तो घेवर के बदले सूखी रोटी भी लेने के लिये अपना हाथ लम्बा कर लेगा और उस रोटी देने वाले को भी अपना उपकारी मानेगा।

प्रभु-दर्शन की क्षुधा जागृत नहीं होने के कारण ही अनन्त काल से अत्यन्त विकट भव-वन में भ्रमण करते भव्यात्मा भी प्रमाद की चम्पी करने में लीन रहते हैं। जो भव्यात्मा समय पर सचेत होकर प्रभु-दर्शन के लिये पुरुषार्थ करते हैं; प्रभु-दर्शनार्थ सामग्री का यथार्थ उपयोग करते हैं, यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करके ग्रन्थिभेद करते हैं उनके लिए श्री जिन शासन रूपी मन्दिर का द्वार जब कर्म-विवर नामक द्वारपाल खोलता है तब ही उसमें उसे प्रवेश मिल सकता है।

उस द्वार में जीव जब प्रवेश करता है तब उसे उपकारी गुरु महाराज मिलते हैं। वे उसे शुद्ध श्रद्धा रूपी 'तत्त्व-प्रीति कर' जल का पान कराते हैं, सम्यग् ज्ञान रूपी 'विमलालोक' नामक अंजन उसके नेत्रों में लगाते हैं और फिर उसे सम्यक् चारित्र रूपी 'महा-कल्याण' नामक क्षीर-भोजन कराते हैं। इस क्रम से वे उसे सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी रत्न-त्रयी की प्राप्ति-कराते हैं, जिसकी प्राप्ति से सब प्रकार का विपर्यास दूर होता है।

तत्त्व-प्रीति कर पानी की प्यास अर्थात् आत्म-रति की प्यास, आत्म-प्रीति की प्यास, आत्म-स्नेह की प्यास।

इस प्रकार की प्यास मुक्ति-पिपासु व्यक्ति में होती है। मुक्ति की पिपासा सर्व कर्म-मुक्त परमात्मा के दर्शन के लिये उपलब्ध सामग्री का सदु-पयोग करने से जागृत होती है, क्योंकि उस प्रकार के धर्म-पुरुषार्थ से आत्म-प्रदेशों को ढ़ँकने वाले कर्म अशक्त हो जाते हैं और वायु के योग से बादल बिखरने पर उसकी ओट में छिपे सूर्य की किरणें धरातल पर फैल जाती हैं, उसी तरह आत्मा का प्रकाश मन में फैल जाता है, आत्मा की अनन्त शक्तियों का शास्त्रोक्त ज्ञान अनुभव करने का अवसर मिलता है। फिर श्री जिनेन्द्र-शासन का तात्त्विक स्पर्श होता है अर्थात् निज की समग्रता पर आत्मा के स्वामित्व का संवेदन होता है।

इस प्रकार की उत्तम पात्रता से सुगुरु का सम्पर्क होता है। जो अपार वात्सल्य से साधक की भाव-देह को पुष्ट करने वाले तत्त्वामृत का पान कराते हैं। उस साधक को फिर पर-पदार्थ काँच के टुकड़ों के समान तुच्छ प्रतीत होते हैं और आत्म-पदार्थ एवं उसके गुण रत्न से अधिक मूल्यवान प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार की योग्यता-सम्पन्न पूज्य उपाध्यायजी अपना अनुभव बताते हुए फरमाते हैं कि उपर्युक्त विवेचन के अनुसार मेरा मिथ्या भ्रम पूर्णतः नष्ट हुआ है और अब मैं प्रभु के साथ पूर्ण प्रेम से एकान्त में मन खोलकर बात कर सकता हूँ। मेरे और प्रभु के मध्य इस हद तक भेद टूट गया है। मैंने प्रभु का उपकार माना है, अतः उनके प्रति मुझ में अविचल भक्ति-भाव जागृत हुआ है

और मेरी दृष्टि निर्मल हो जाने से प्रभु का यथार्थ स्वरूप मुझे दृष्टिगोचर हुआ है, उन कृपालु परमात्मा का वास्तविक अर्थ में मुझे दर्शन हुआ है।

इस तरह परमात्मा के साथ मेरी आत्मा का भेद मिट जाने से मैं परमात्मा के साथ निष्कपट भाव से अन्तर की बातें कर सकता हूँ। निष्कपट भाव से की गई अन्तर की बातों से परमात्मा कुपित नहीं होते, वरन् उनकी परम पावन कृपा मेरे प्रति बढ़ती ही रहती है। जिस तरह बालक जब निष्कपट भाव से माता-पिता के समक्ष अन्तर के भाव व्यक्त करता है, तब वे उस पर कुपित नहीं होते, परन्तु उसकी सरलता के कारण उस पर उनका वात्सल्य अधिक बरसता है।

अन्त में पूज्य श्री यशोविजयी महोपाध्याय के अविचल परमात्म-निष्ठा एवं अपूर्व परमात्म-भक्ति प्रदर्शित करने वाले उद्‌गार निकल पड़ते हैं कि—"हे परमात्मा! अब यदि कोई भी व्यक्ति इन्द्रजाल आदि करोड़ों प्रपंच मुझे लालायित करने के लिए दिखाये तो भी मैं अब आपको छोड़ कर किसी भी अन्य देवता के पास याचना करने वाला नहीं हूँ। अब मुझे सब कुछ आपसे प्राप्त होगा, ऐसी अटूट श्रद्धा है। अतः अब मैं अन्य किसी भी देव के माया-जाल में नहीं फँसूंगा।

कैसी अविचल श्रद्धा? कैसी परमात्म-प्रीति? कैसी निर्मल भक्ति? मन किसी अन्य को देना ही नहीं है, मन का उपयोग किसी अन्य को सौंपना ही नहीं है, किसी को करने देना ही नहीं है।

त्रिभुवन क्षेमकर श्री तीर्थंकर परमात्मा की भक्ति में जब स्थायी मजीठ का रंग लगता है, अविचल रंग लगता है, तब ही इस प्रकार के उद्‌गार साकार होते हैं और उन पर बार-बार चिन्तन-मनन करने वाले पर भी उसका रंग बढ़ता है।

उत्कृष्ट जिन-भक्ति के ज्वलंत स्रोत तुल्य पूज्य उपाध्यायजी के जीवन में पूज्य श्री आनन्दघन जी महाराज के जीवन के समान आत्म— संवेदन है,

ठोस परमात्म-प्रीति है, उत्कृष्ट अभेद का बुलन्द घोष है, उसका जितना लाभ लिया जा सके उतना कम है।

इसी तरह से पूज्य श्री चिदानन्दजी महाराज भी "परमातम पूरण कला" स्तवन में परमात्म-दर्शन से अपने जीवन में प्राप्त अनुभव-प्रकाश को व्यक्त करते हुए फरमाते हैं कि—

"हे प्रभो! आपके दर्शन से मेरे अन्दर में अनुभव-ज्ञान का प्रकाश फैलता है। जिस प्रकार प्रज्वलित दीपक की ज्योति के स्पर्श से अन्य सैकड़ों अप्रज्वलित दीपक प्रज्वलित हो उठते है, उस तरह से सचमुच प्रभु! अब मुझे अटूट श्रद्धा हो गई है कि ऐसे अमूल्य अनुभव-ज्ञान के जो-जो अभ्यासी पुरुष हैं वे समस्त दुःखदायी कर्मों का अवश्य नाश करते हैं।"

"जो आत्माऐं सब प्रकार के कर्म-कलंकों को दूर करती हैं, वे निज स्वरूप में रमण करती हैं, स्व-स्वरूप में अपूर्व भाव से तन्मय होकर रहती हैं और फिर वे आपके शाश्वत धाम में विश्राम लेती हैं अर्थात् परम-पद प्राप्त करके अक्षय एवं अव्याबाध सुख की भोक्ता बनती हैं।"

अनुभव-योगियों के ये अनुभव-वचन सचमुच अमूल्य हैं। इनमें परमात्म-भक्ति की प्रचुरता है, पर-परिणति का सर्वथा त्याग है, स्व-स्वरूप का अविहड़ राग है। पर को देने के लिये हमारे पास समय नही है क्योंकि अब हम 'स-मय' हो गये हैं। अतः हमारा समस्त समय, समस्त बुद्धि और समस्त शक्ति समस्त सामग्री स्व के लिए है, स्व के जाति-बन्धुओं के लिये हैं। इस प्रकार का अद्भुत तत्त्व बोध ऐसे अनुभव-वचनों को हीरा-मोतियों से भी अधिक मूल्यवान समझ कर ग्रहण करने से प्राप्त होता है।

आँख का स्वभाव है कि वह बाहर के एक तिनके को भी अपने भीतर सहन नहीं करती, उसे बाहर निकालने के लिये मजबूर करती है।

जब मन इस प्रकार के स्वभाव वाला हो जाता है तब उसे 'स्व' का भाव तुरन्त स्पर्श करता है।

'स्व-भाव' में रुचि श्री अरिहन्त परमात्मा के चार में से किसी भी निक्षेप की भक्ति से प्रकट होती है।

नाम-स्मरण से नाम की ख्याति का भूत भाग जाता है।

स्थापना-भक्ति से आत्मा में स्थापित पौद्गलिक भाव का उन्मूलन होता है।

स्व-भाव से परोपकारी अरिहन्त परमात्मा के आत्म-द्रव्य की चिन्तनात्मक भक्ति से ऋण-मुक्ति-कारक सत्त्व प्रकट होता है; और असंख्य सूर्य-चन्द्रों से अधिक निर्मल, ज्योतिर्मय, कान्तियुक्त और 'उत्तमा सिद्धा' के रूप में पूजित श्री अरिहन्त परमात्मा के परम स्वरूप के निरन्तर मनन से वह कार्य सम्पन्न होता है जो इस विश्व में अन्य कोई कदापि नहीं कर सकता। वह कार्य है स्वधाम की प्राप्ति।

मन में प्रतिष्ठित राग-द्वेष एवं मोह को पद-भ्रष्ट करने के लिये यह करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; तो ही पुद्गल का राग नष्ट होता है. जीव के प्रति द्वेष नष्ट होता है और स्वयं के प्रति मोह नष्ट होता है।

अतः नव-निर्मित भव्य जिनालय में श्री जिन-प्रतिमा के प्रसंग पर जो उल्लास और उमंग होती है और उतने ही उल्लास और उमंग से हमें अपने मन-मन्दिर में श्री जिनराज के नाम, गुण, भाव, स्वरूप और आज्ञा आदि की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। जीवन में केवल एक बार नहीं परन्तु प्रत्येक साँस में सौ-सौ बार प्रतिष्ठा करनी चाहिये और मन में जो प्रतिष्ठित हैं उनकी प्रतिष्ठा को ही अपनी प्रतिष्ठा बनानी चाहिये।

फिर किसी मंगल की अभीप्सा मन में नहीं जगती क्योंकि सर्व मंगलों के स्वामी ही जब मन में विराजमान हों तो इस प्रकार की अभीप्सा जगने का स्थान ही नहीं रहता। तब मन शान्त, प्रशान्त उपशान्त, हो जाता है और आत्मा सम्पूर्ण मन-मन्दिर का देवता बनकर अपना साम्राज्य चलाती है;

अर्थात् सम्पूर्ण चित्त-तन्त्र पर आत्म-स्वामित्व स्थापित हो जाता है और जड़ कर्मों के स्वामित्व का उच्छेद हो जाता है।

अजन्मी आत्मा का सच्चा सम्मान उसे जन्म धारण न करना पड़े ऐसे परम मंगलमय जीवन की साधना द्वारा ही होता है।

समस्त साधक इस प्रकार की साधना में तल्लीन होकर 'परमात्म-दर्शन' प्राप्त करके परम-पद के भोक्ता बनें, समस्त जीवों को अभय-प्रद बनें यही शुभ कामना।
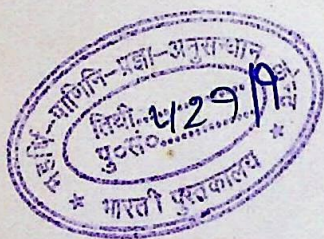
श्री पद्मप्रभना नामने....,
हुं जाउं बलिहार....।
नाम जपन्ता दीहा गमुं,
भव-भय-भञ्जणहार ....॥१॥

नाम सुणंता मन उल्लसे,
लोचन विकसित होय ।
रोमांचित हुवे देहड़ी,
जाणे मिलयो सोय....॥२॥

पञ्चम काले पामवो,
दुर्लभ प्रभु-देदार ।
तोहे तेहना नामनो,
छे, मोटो आधार....॥३॥

नाम ग्रहे आवी मिले,
मन भीतर भगवान ।
मन्त्र बले जिम देवता,
वाहलो कीधो आह्वान ॥४॥

ध्यान पदस्थ प्रभाव थी,
चाख्यो अनुभव स्वाद ।
मान विजय वाचक कहे,
मूको बीजो वाद ....॥५॥